सहजानंद शास्त्रमाला

समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर,इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक **'समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है।

समाधितन्त्र **आचार्य पूज्यपाद** द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थ है. इस पर पूज्य वर्णीजी द्वारा अत्यन्त सरल भाषा में प्रवचन किये गये हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में समाधितन्त्र ग्रन्थके श्लोक 51 से 75 तक के प्रवचन संकलित हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे |

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्रीमती प्रीति जैन,** इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णीमहाराज द्वारा रचित ''सहजानन्द''

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।

अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०।।१।।

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।२।।

आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०।।३।।

Table of Contents

आत्म रमण 5

श्लोक 51 2

श्लोक 52 12

श्लोक 53 17

श्लोक 54 27

श्लोक 55 29

श्लोक 56 34

श्लोक 57 39

श्लोक 58 44

श्लोक 59 49

श्लोक 60 54

श्लोक 61 58

श्लोक 62 63

श्लोक 63 68

श्लोक 64 73

श्लोक 65 78

श्लोक 66 80

श्लोक 67 83

श्लोक 68 88

श्लोक 69 93

श्लोक 70 97

श्लोक 71 102

श्लोक 72 110

श्लोक 73 115

श्लोक 74 120

श्लोक 75 124

श्री वर्णी साहित्य मन्दिर

समाधितन्त्र प्रवचन

तृतीय भाग

-:०:-

प्रवक्ता-

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द' महाराज

०००००

प्रकाशक-

जयन्तीप्रसाद जैन, रिटायर्ड हेड कैशियर, स्टेट बैंक

मंत्री, श्री वर्णी साहित्य मन्दिर,
सेवाकली, इटावा (उ०प्र०)

प्रथम संस्करण]	जून १९६६	[न्यौछावर
१०००		१)५०

समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग

प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक

मनोहर जी वर्णी महाराज "सहजानन्द"

श्लोक 51

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

अविकृत उपयोग बनाने के उपायभूत भावना का संकल्प — इन्द्रियों के द्वारा जिनको मैं देखता हूं वे मेरे कुछ नहीं हैं और जब इन्द्रियों को संयत करके अपने आपके अंतरंग में जो आत्मानन्दमय ज्ञानप्रकाश को देखता हूं वह मैं हूं । यह जीव परपदार्थों में अनासक्त होता हुआ आत्मज्ञान को ही बुद्धि में धारण कर सके- ऐसी कौन सी भावना है ? यह बताना आवश्यक है, क्योंकि आत्मज्ञान से भिन्न अन्य कुछ बात बुद्धि में धारण न करनी चाहिए । जीवन चलाना है, गुजारा करना है, इस कारण कुछ अन्य कामों में फँसना पड़ता है । उसे भी करें, किन्तु अन्य कार्य को बुद्धि में बहुत समय तक धारण न करें । ऐसी स्थिति इस जीव में कैसे आ सकती है ? उसके उपाय में यह भावना बतायी गयी है कि इन इन्द्रियों के द्वारा मुझे जो कुछ दिखता है वह मेरा कुछ नहीं है ।

दृश्यमान् पदार्थ की अहितरूपता — क्या दिखता है इन इन्द्रियों से ? रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिंड पुद्गल । अन्य कुछ नहीं दिखता । क्या दिखता है इन इन्द्रियों से ? अत्यन्त भिन्न ये अचेतन पदार्थ । इन पदार्थों से न मेरे आत्मा को शान्ति होती है, न हित होता है, बल्कि इन पदार्थों में दृष्टि रहने से यह आत्मा विह्वल हो जाता है । आकुलता का स्थान है तो यह परिचित परस्थान है । तो जो कुछ इन इन्द्रियों से दिखता है वह मेरा कुछ नहीं है । भारी फँसाव और

अन्य काम करने के एवज में या धर्म के लिए बड़े यत्न करके उन कोशिशों की एवज में सर्वप्रथम यह तैयारी बनाएँ कि दृष्टि में यह बात विशद बनी रहे कि यह सब कुछ मेरा कुछ भी नहीं है ।

अट्ट सट्ट व्यामोह – भैया ! कुछ भी है नहीं अपना, पर मानते जा रहे हैं कि मेरा सब कुछ है और इस तरह से सब कुछ मानते जा रहे हैं कि मेरी दृष्टि में मानो ऐसी बात बसी हो कि यह मेरे से छूटकर जायेगी कहां सम्पदा ? जब तक जियेंगे तब तक भी रहेगी और शायद मरने पर भी साथ जायेगी अथवा उन्हें इसकी कल्पना ही नहीं जगती कि मरने पर यह सम्पदा बिछुड़ जायेगी । जो कुछ इन इन्द्रियों से दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है । अनाप सनाप आ गयी कोई चीज घर में उसको ही मान लिया कि यह मेरा है । कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । यदि यह जीव न आता और कोई आता तो उसी को मान लेता यह मोही प्राणी कि यह मेरा है । कोई भी पर जीव मेरा नहीं है ।

अधिकार्यता की शुमार गाली में – किसी वस्तु को मेरा कहना यह तो उस वस्तु को गाली देने की तरह है । साथ में कोई आदमी हो और कोई पूछे कि यह कौन है ? तो कहे कि यह मेरा आदमी है — ऐसा सुनकर क्या वह आदमी खुश होगा ? नहीं खुश होगा । मकान अचेतन पदार्थ है, उसे यह जीव कहता है कि यह मेरा मकान है । यदि इस मकान में जान होती तो यह भी झट कह बैठता कि यह मेरा आदमी है, पर बेचारा कुछ बोलता नहीं, जानता नहीं । यह जीव कहता है कि यह मकान मेरा है, यह बिल्डिंग मेरी है । जो कुछ दिखता है वह कुछ भी मेरा नहीं है, ऐसा अन्तर्निर्णय आये तो फिर ज्ञानी किसी भी अन्य पदार्थ को अपनी बुद्धि में चिरकाल तक धारण न करेगा । किसी भी परपदार्थ को अपने उपयोग में न बसाये, इसके उपाय के ज्ञान की अन्तर्भावनावना दर्शायी जा रही है ।

कल्पना का क्लेश — भैया ! एक भी भाई को क्लेश है ही नहीं, किसी को नहीं है क्लेश और मान रहे हैं सभी क्लेश । केवल क्लेश का कारण यह है कि अट्ट सट्ट कुछ-कुछ पुद्‍गल में यह भाव भर रक्खा है कि यह मेरा है । जिसे मान लिया कि यह मेरा है और वह पास रहा नहीं, उसका परिणमन उसके साथ है, वह अपनी परिस्थितिवश बिछुड़ेगा, विमुक्त होगा, भागेगा उस समय यह क्लेश करता है, हाय मेरे हाथ अब नहीं रहा, अथवा वर्तमान में पास भी नहीं है कुछ, पर कल्पना में मान लिया कि यह मेरे सम्बन्ध वाला है और न आये पास तो कष्ट होता है कि अरे यह मेरा अब मेरे पास नहीं है, फिर किसको तुम बुद्धि में रमाते हो?

बेहूदा व्यामोह — चेतन पदार्थों से कुछ मोहीजनों का राग हो जाना उसमें इतना बेहूदा व्यामोह नहीं है जितना कि इन जड़ पुद्‍गल पदार्थों में, कंकड़ो में, ढेलों में, वैभवों में यह बुद्धि हो जाना

कि यह मेरा है, उनमें राग हो जाना, प्यार हो जाना यह अधिक मूढ़ता की बात है । ये दूसरे जीव तो हम आपकी तरह कुछ चेष्टा करते हैं, कुछ बात करते हैं, चेतन हैं, उनका आकर्षण होता है, हमारी ही तरह जानन देखनहार स्वरूप वाले हैं । राग हो गया उनमें, पर ये धन, मकान, वैभव, सोना, चांदी ये सब पूर्ण अचेतन हैं, इनकी ओर से कुछ जवाब भी नहीं मिलता, संकेत भी नहीं होता, और यह केवल अपनी ओर से उनकी ओर झुका जा रहा है । उनमें ही आकर्षित होना यह तो व्यामोह है । जो कुछ हम इन्द्रियों से देखते हैं वे मेरे हैं ही नहीं, फिर मैं अपने उपयोग में किसको बसाये रहूं ?

आत्मज्ञान की तैयारी — मैं हूं क्या, इसको यदि जानना है तो इसे जानने के लिए भी बड़ी तैयारी करनी होगी । यह यों ही नहीं जान लिया जायेगा । जैसे भोगों का भोगना आसान काम है पर भोगों से विरक्त होना, भोगों का त्याग करना यह शूरवीरों का काम है । यों ही इन इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों को निरखकर उनकी बात जानते रहना, समझते रहना—यह आसान हो रहा है, किन्तु कहा जाय कि तुम बाह्यपदार्थों में न उलझकर अपने अन्तर में केवल आत्मा के सहज ज्ञायक स्वरूप को निरखो तो इसमें बड़ा जोर पड़ता है । जो अत्यन्त स्वाधीन बात है सुगम है, खुद के खुद यह ही तो धरे बैठे हैं, किन्तु अपने आपको जानने भर में इसे बड़ी मेहनत पड़ रही है । आत्मा के ध्यान या चिंतन करने को बैठता है तो यह चित्त मेंढक की तरह कूदकर उछल भागता है । यह सब व्यवहार की बात है । अपने आपको जानना है, समझना है तो कुछ अपनी तैयारी भी करनी होगी । वह तैयारी है भेदविज्ञान का करना और इन्द्रियों को संयत कर देना, इन्द्रिय के विषयों में प्रीति न जगना, इनकी ओर आकर्षण न होना, इन्द्रिय के विषयों में प्रवृत्त न होना । क्या ऐसी तैयारी हो नहीं सकती ?

इन्द्रियसंयमन – देखो भोजन करने का रस, स्वाद लेने का काम इस समय आप सबके बंद है, कल्पना तक भी नहीं जग रही है कि मुझे खाना है । जैसे कि इतर लोग जो रात्रि को खाते हैं उन्हें इस समय भी संस्कार बना होगा या तो खाकर आये होंगे अब रात को सो उसका मौज मान रहे होंगे, थोड़ा पेट पर हाथ फेर रहे होंगे कमीज के भीतर हाथ रखकर । कुछ न कुछ वासना संस्कार जरूर उस ओर होगा और न खाया होगा तो चित्त में होगा कि अब जाकर उन रोटियों को खायेंगे । कुछ चित्त व्यग्र होगा, पर जिनका रात्रिभोजन त्याग है उनके कल्पना तक भी न हो रही होगी, उनकी रसना इन्द्रिय संयत हो गयी अथवा नहीं ? इस समय आपकी यह रसना इन्द्रिय संयत है । जब इस समय यह रसना इन्द्रिय संयत है तो क्या अन्य इन्द्रियों को संयत नहीं किया जा सकता ? इन आंखों से क्या देखना ? दिख जाय तो दिख जाय, किन्तु क्या प्रयत्न करें कि उसमें राग न हो, फँसाव न हो । जो भी चीजें दिखेंगी उनमें कुछ तो कोरी अचेतन हैं कुछ तो पुद्‌गल हैं, उनकी तो ऐसी दशाएँ हैं उनका क्या निरखना ?

पुद्‌गल में क्या देखना— एक बार हम श्रवण बेलगोल की यात्रा करने गये,८वीं प्रतिमा थी, किन्तु ८वीं प्रतिमा में ही मैंने पैसा न छूने का नियम रक्खा था कि मुझे अपने हाथ से पैसा नहीं छूना है । दूसरे से कहें कि यह उठा लो, गिनलो, धरलो तो ऐसी स्थिति में हम एक को और साथ ले गये। भले ही खर्च डबल हो जाय । ८वीं प्रतिमा में पैसा रख सकता है, छू सकता है, जेब में रख सकता है । पर हमने पैसा तो रक्खा था, पर छूने का त्याग कर दिया था । सो दोनों के खर्च के लिए पैसा उस दूसरे को मैंने सौंप दिया था । अब वह ही सब करे। उस यात्रा में जब हम चले तो हमारे गुरुजी बोले – देखो मनोहर श्रवणबेलगोला में जाना तो कृष्णसागर देखकर आना, अमुक चीज देखकर आना । उस समय थोड़ा सोचा कि कहां देखने जायें, क्या कह दिया गुरुजी ने, कहां दो मील, चार मील जायें, वह कृष्णसागर कोई पुद्‌गल ही तो होगा और क्या होगा वहां ? फिर–बोले नहीं, जरूर देखकर आना, अच्छी जगह है, अच्छा स्थान है, जरूर देखकर आना । खैर मैंने यह सोचकर कि गुरुजी का यह भाव होगा कि बिना देखे आ जाने पर इसके फिर कल्पना न जगे सो देखकर आये । तो अचेतन कुछ होगा वह पुद्‌गल की ही तो कुछ रचना होगी, चमकदार होगा, सफेद होगा, आकार होगा, गोल होगा, चौकोर होगा । उन पुद्‌गलों का भी क्या अनुराग ?

शरीर में क्या देखना— यदि जीवित शरीर है तो हाड़ मांस रुधिर पसीना के पिंड हैं, उनको भी क्या रुचिपूर्वक देखना ? उसमें भी क्या तत्त्व है ? जब कुछ देखने लायक नहीं है तो ये आंखे सहज कुछ देख लेती हैं तो देख लो, किन्तु अनुरागपूर्वक कष्ट करके, श्रम करके किन्हीं चीजों को निरखना व्यर्थ की बात है ।

कोरी चर्चा से अलाभ — जो कुछ दिखता है वह मेरे से भिन्न है, अहित है, असार है, तो किस परपदार्थ को मैं अपने उपयोग में रक्खूँ ? यहां मेरा कहीं कुछ नहीं है । यहां श्रद्धा, अन्तर में निर्णय करते हुए होनी चाहिए । केवल धर्म के प्रसंग में, धर्म की चर्चा में जो अपने मन को बहलाने के लिए ज्ञान विज्ञान की बात कर दी जाय तो उससे कुछ अंतरङ्ग में सार की बात नहीं निकलती; बल्कि यह कोरी सूखी, भावविहीन धर्म की चर्चा अपने भीतर के एबों को छिपाने वाली होती है ।

भावविहीन धर्मचर्चा से मात्र दोषावरण की प्रयोजिका — जैसे बड़े बड़े धनिकों के दान उन धनिकों के दोष को छिपाने वाले होते हैं । कर दिया किसी जगह दो लाख रुपये का दान। उन्हें क्या टोटा पड़ा है ? बीस लाख का मुनाफा कर लिया था कहीं अट्ट सट्ट ढंग से और दो लाख का दान कर दिया । यदि भावविहीन कोई दान करता है तो वह दान दोषों को छिपाने वाला होता है । यों ही भावविहीन जो पुरुष धर्म में यत्न करता है उसका भी यत्न अन्तरङ्ग के दोषों को छिपाने के प्रयोजन को साधने वाला होता है ।

गुप्तज्ञान और आनन्द – भैया ! अन्तर में निर्णय हो और गुप्त ही गुप्त रहकर किसी को दिखा क्या है, किसी को बताना क्या है ? अपने ही आप में हम कर सकें अन्तरंग में हित का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण तो वह मुझे मिला है । यों भेदविज्ञान सहित जो धर्ममार्ग में कदम चलाता है, नियतेन्द्रिय हो जाता है — ऐसा पुरुष अन्तरंग में एक बड़े आनन्द पूर्वक कुछ कुछ देखता है । क्या देखता है ? इसको वह भी बता नहीं सकता । पर वह यह कहेगा कि मुझे बहुत आनन्द आया था, तुमने बीच में टोक दिया, मुझे इसमें विघ्न हो गया । मैं अपने एक शुद्ध आनन्द में मग्न हो रहा था, कैसा आनन्द पा रहा था, वह बता नहीं सकता ।

आनन्द के विवरण की अशक्यता पर एक लोकदृष्टांत — भैया ! बता दो कि आप भी किसी वस्तु का स्वाद न कर सकेंगे, कुछ भी बता दो । आप रोज रोज उड़द की दाल रोटी खाते हैं, जरा बताओ कि उसमें कैसा स्वाद आता है ? अरे, पूड़ी से भी अधिक स्वाद है, मिठाई से भी अधिक स्वाद है । कैसा है ? सही सही बताओ । अरे, मेरे पास उस भोजन के स्वाद को बताने वाले कोई शब्द नहीं हैं । फिर जो इन्द्रियों को संयत करके अपने आप में अन्तरंग में जो कुछ देखा है इस ज्ञानी ने उसमें जो आनन्दानुभव है व उसी आनन्द के साथ जो ज्योति प्रकाश दिखा कि मैं तो बस इतना ही मात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं ।

कुमार्ग में संकट की अनिवार्यता — दु:ख के रास्ते में तो आप खुद चले जा रहे हैं, दूसरों के भी कुछ भाग्य लगा है या नहीं, इसका कुछ ख्याल नहीं है, किन्तु इनका पालन पोषण करने वाला मैं हूं, यह दुराशय बनाये हैं । जब अहंकार बसाया है तो दु:खी होना ही पड़ेगा । अहंकार बनाये रहें, पर वस्तु के करने वाला भी हम मन में जंचते रहें और सुख शांति भी देखें तो यह नहीं हो सकता । दु:खों के रास्ते से हम खुद चलते हैं और दु:खी होते हैं । बड़ों बड़ों ने राज्य छोड़ा, सम्पदा छोड़ी और केवल अपने आत्मीय आनन्द में लीन होने का यत्न किया । हम अपने पुरुषों की करतूत कुछ नहीं देखते और जो मन में जंचा, उसी बात में बहे जा रहे हैं, तो बताओ दु:ख के रास्ते पर चलने से सुख की आशा करें तो कैसे होगा ?

कांटों भरे रास्ते में नंगे पैर जायें और कांटा लगने पर क्रोध करें, क्यों लगा यह कांटा? अरे कांटों के रास्ते से जा रहे थे, वह तो लगेगा ही । ऐसे ही मोह और अज्ञान के रास्ते से चले जा रहे हैं तो वहां क्लेश आयेंगे ही । क्लेश आने पर खेद नहीं करें, क्योंकि हम खुद ही कुपथ पर जा रहे हैं, इसलिए क्लेश हुआ ।

मेरे लिए बाह्य पदार्थों की अनुपयोगता – जगत् में कोई भी पदार्थ मेरे उपयोग में फँसाने योग्य नहीं है । भीतर से मोह की गांठ टूटनी चाहिए । मोह करके गुणगान न करें कि मेरा लड़का बड़ा आज्ञाकारी है, मेरी यह लड़की बड़ी विनयशील है । अरे, ये प्रशंसाएँ जीव के गुणों को

देखकर नहीं कर रहे हो तुम, किन्तु मोह के वश कर रहे हो । जिन जीवों के गुण देखकर तुम प्रशंसा कर रहे हो, उनसे हजारगुने अच्छे दूसरे जीव हैं । इनके गुणगान को जिह्वा ही नहीं हिलती । कुटुम्ब में बसे हुए लोगों से अधिक गुणवान् इस लोक में पाये जाते हैं, उनके गुण बखारने को तुम्हारा मन क्यों नहीं करता ? यह मोह का प्रतिकार है ।

करुणा या व्यामोह — अपने लड़कों की वेदना को देखकर या स्त्री आदि सम्बन्धियों की पीड़ा देखकर जो करुणा उत्पन्न होती है, दया उत्पन्न होती है, देखा नहीं जाता है, हृदय भर आता है । क्या उसे दया कहेंगे ? पास में ही पड़ौस का आदमी आपके बच्चे से दस गुना दु:खी है, बीमार है, कराह रहा है, उसे देखकर तो अन्तर में वेदना नहीं हो रही है । एक स्त्री और पुत्र पुत्री के कुछ थोड़े से दु:ख को देखकर चित्त दहल जाता है । हाय कितना दु:खी है, इसे दया कहेंगे क्या ? इसे तो मोह कहेंगे । दया में शुद्धता बसी होती है । इस गृहस्थ की उस अनुकम्पा में शुद्धता नहीं बसी हुई है । शुद्धता बसी होती तो पड़ौस का आदमी उससे दस गुना दु:खी है, उसे देखकर दया क्यों नहीं आती ? यह सब मोह की बात है ।

धर्मपालन या व्यामोह – किसी स्त्री और पुरुष को मिलकर पूजा करने का शौक होता है । पुरुष भी पूजा कर रहा, स्त्री भी पूजा कर रही, कुछ द्रव्य चढ़ायेंगे तो अपनी रकेबी में पुरुष लौंग रख लेगा, स्त्री को बादाम दे देगा और बड़ी भक्ति से गद्‍गद्‍ होकर पूजन करते हैं। ऐसा करें, यह अच्छी बात है, पर जरा दिल को तो टटोल लो कि तुम वहां धर्मबुद्धि से पूजन कर रहे हो या मोह बुद्धि से पूजन कर रहे हो ? मोह बुद्धि से किया गया पूजन धर्म में न आएगा । वहां तो केवल स्त्री का चित्त प्रसन्न करना है, यही उसका उद्देश्य है । तो यों ही समझिये कि जिनमें मोह है, उन पर दया उत्पन्न हो तो वह दया में शामिल नहीं । दयावृत्ति जगी हो तो सबकी ओर दृष्टि जानी चाहिए । जो कुछ दिख रहा है, वह मेरा नहीं है, उसे क्यों उपयोग में बसाते हो ?

"मैं" के निर्णय पर शान्ति की निर्भरता और एतदर्थ प्रथम कदम – मैं क्या हूं ? इस निर्णय पर शान्ति का मार्ग निर्भर है । मैं जो हूं, उसका निर्णय प्रायोगिक ज्ञान द्वारा है । उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि आत्मतत्त्व का और अनात्मतत्त्व का भेदविज्ञान हो, कल्याणार्थी पुरुष को कम से कम इतना तो ज्ञान होना ही चाहिए कि मैं आत्मा चेतन हूं और अन्य समस्त पदार्थ जो दृश्यमान हैं, वे अचेतन हैं और जो अन्य जीव हैं, वे मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं । इतना भेद तो प्रथम ही आवश्यक है । यह भेद विज्ञान मन में घटित हुआ होना चाहिए। वैसे तो आबाल-गोपाल, सभी लोग, देहातीजन, सभी प्रकार के मनुष्य जीव न्यारे हैं, शरीर न्यारा है ऐसा कहते हैं ।

किसी की मौत हो गई तो स्पष्ट कहते हैं कि देखो यह चोला छोड़कर चला गया । जीव न्यारा है, पर सबसे विविक्त यह जीवतत्त्व अपने आपमें एक ज्ञानज्योति को लिए हुए प्रकट होवे तो यह उत्तम बात होगी । सो प्रथम आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान होना चाहिए । यह है कल्याणार्थी पुरुष का पहिला कदम अपने आपके स्व के अनुभव के लिए ।

कल्याण के प्रयोग – ज्ञानी का कल्याण के अर्थ दूसरा कदम होता है इन्द्रियों को संयत करना । ये इन्द्रियां बाह्यरूप में स्वच्छन्द होकर न प्रवर्तें ऐसा नियतेन्द्रिय बनने के लिए यह उपाय किया जाता है, जो भेदविज्ञान से सम्बन्धित है । यह विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द आदि पदार्थ मेरे नहीं हैं । इनसे मेरा कोई सुधार अथवा बिगाड़ नहीं होता है । ऐसे निर्णय के बल से इन्द्रियों को उनमें न लगाना मुमुक्षु पुरुष का दूसरा कदम है । इससे नियतेन्द्रिय यह हो गया । अब परपदार्थ को उपयोग से हटावे और निजपदार्थ को उपयोग में लाये । इस उपाय के बाद अपने आप में स्वयं एक विश्राम बनेगा और वहां आनन्द सहित यह उत्तम ज्योति उपयोग में प्रकट होगी । यह ही स्वानुभूति है, यह ही परम आनन्दस्वरूप कल्याणरूप है ।

मोही जीव का अविवेक – इस जीव ने अब तक क्या से क्या नहीं किया ? आहार, नींद, भय, मैथुन इन चार संज्ञाओं से पीड़ित होकर भव भव में इन संज्ञाओं का काम किया । स्वयं तो यह ज्ञानानन्दस्वरूप है, किन्तु अपने स्वरूप का आदर न करके इन संज्ञाओं के ही पोषण में अपना समय गंवाया । जो धुन कीडे मकौड़ो की है, जो धुन पशु पक्षियों की है — खाते ही रहना, नींद लेना, डरना, कामसेवन करना, यदि यही धुन इस मनुष्य भव में रही तो पशु पक्षियों से इस मनुष्य में क्या विशेषता रही ? इस जीव को यह ही विडम्बना चली आ रही है और यह इसमें ही अपनी चतुराई मानता है । पांच इन्द्रियां और छठा मन ऐसे इन छः प्रकार के विषयों की साधना में जिसने जितनी चतुराई पायी, वह जानता है कि मैं बहुत बड़ा हूं और मैं होशियार हूं । यह विदित नहीं है कि विषयों में जितनी वृत्ति बनायी है वह मेरे अहित के लिए है ।

अन्तर्ज्ञानी का भाव – जिसे अन्तर में ज्ञान जगा है वह सबको अपरिचित देखता है और अपने को भी यों समझता है कि मुझे भी कोई जाननहारे नहीं हैं । न मैं दूसरों को जान रहा हूं, न दूसरे मुझे जान रहे हैं । अपरिचित दुनिया में कषायें ज्यादा नहीं जगा करतीं । जब दुनिया परिचित होती है तो कषायें जगती हैं । इसने मुझे छोटा समझ लिया, मैं कहां छोटा हूं । दो आदमियों में सम्मान और अपमान का भाव बनता है । जो अपने को अकेला ही जान रहा है उसमें सम्मान अथवा अपमान का क्या प्रकरण है, एकत्त्व ही अमृत है । जितना अधिक इस एकत्व का आदर होगा, एकत्व स्वरूप में ही अपने उपयोग की पहुंच रहेगी, उतना ही इसके मोक्षमार्ग प्रकट है और यह शांति के निकट है । तो भेदविज्ञान करके इन्द्रियों को संयत करके

समस्त बाह्य पदार्थों को हटाकर अपने आपमें अपने को जोड़कर जो एक आनन्दघन विज्ञानमय निजज्योति का अनुभव जगता है वह ही ज्योति मेरी सदा काल रहो ।

ज्ञानी का यत्न और भावना – जब यह अन्तरात्मा पुरुष भेदविज्ञान की दृष्टि के बल से इन दृश्यमान पदार्थों को अपना नहीं मानता है और ज्ञानानन्दघन निजस्वरूप के अनुभव के लिए ही यत्नशील होता है तो समस्त इन्द्रिय व्यापार रुक जाते हैं । अन्तरङ्ग में अपने उत्तम ज्ञानज्योति का दर्शन होता है । फिर तो उसका मन सर्व पदार्थों से हटता है और अपने आपकी आराधना में लग जाता है, ऐसी ही भावना ज्ञानीसंत पुरुष करता है कि मेरे को तो ऐसी उत्तम ज्ञानानन्द ज्योति प्रकट रहा करो । ऐसे आत्मज्ञान को छोड़कर किसी अन्य कार्य को बुद्धि में अधिक देर धारण करना युक्त नहीं हैं ।

ज्ञानी का प्रयोजनवश क्वचित् व्यापार – भैया ! प्रयोजनवश किन्हीं में पलना पड़े, फंसना पड़े तो उसे यों समझें जैसे लोग कहा करते हैं एक अहाने में कि 'गंले पड़े बजायसरे'। इस अहाने का क्या अर्थ है ? बहुत से मित्र साथ-साथ थे । मजाक आपस में हो रहा था । एक मित्र ने एक मित्र के गले में तासा बाजा डाल दिया । समझलो जैसे कोई बजाता है ना तासा वैसे ही उसके गले में डाल दिया । जब गले में बाजा डाल दिया मित्रों ने, तो यहां तो लोगों ने मजाक की कि ऐसी मजाक से सारे मित्र खुश होंगे और सभी मित्र इसे मजाक मान लेंगे । पर उसने उस मजाक को टालने के लिए कुछ और ही चेष्टाएँ कीं । उसने सोचा कि लोग यों न समझ पायें कि इन्होनें मजाक किया, सो उसने पास से दो डंडियां उठाकर तासे को ढंग से बजाना शुरू कर दिया । नहीं तो शरम करके कहीं छिप जाता पर शरम न करके वह उसे बजाने लगता है । अरे गले में ढोल तासा किसी ने डाल दिया तो बजाने से ही पिंड छूटेगा । यों ही जब परपदार्थों में इस जीव की स्थिति बन गयी है तो उसे निभाना ही पड़ेगा। पर धन्य हैं वे ज्ञानी गृहस्थ जो घर में रहते हुए भी निभाने जैसा ही समझते हैं । अन्तरङ्ग में उन्हें मोह नहीं है, निर्मोह गृहस्थ कभी व्याकुल नहीं होते, यह बात बिल्कुल सत्य जानो । कुछ भी स्थिति आ जाय । क्या स्थिति आयेगी ?

क्लेश का कारण मोह – भैया ! किसी भी स्थिति में यदि कोई गृहस्थ दुःखी हो रहा है तो समझो उसके कारण किसी न किसी पदार्थ का मोह है । पद्मपुराण में एक घटना आयी है – उदयसुन्दर की बहिन वज्रभानु को ब्याही थी । जिस ही साल शादी हुई, वज्रभानु लिवा ले गया तो १५-२० दिन बाद में उदयसुन्दर बहिन को लिवाने पहुंचा तो वज्रभानु के इतना दुःख हुआ वियोग का कि उस स्त्री के साथ ही साथ ससुराल चल दिया । अब साथ में तीन व्यक्ति हैं । उदयसुन्दर, वज्रभानु और वज्रभानु की स्त्री । तीनों जंगल में से गुजरते हैं तो जंगल में एक साधुमहाराज जो युवक और कांतिमान् था, उसकी मुद्रा में आनन्दरस टपक रहा था । उस साधु

को वज्रभानु टकटकी लगाकर देखने लगा और मन में सोचने लगा कि धन्य है यह महापुरुष, कितना आनन्द लूट रहा है यह और मैं पापी अधम जो स्त्री के इतने तीव्र मोह में हूं कि थोड़े दिनों का भी वियोग नहीं सह सकता, इसके साथ जा रहा हूं । उसने अपने आप को धिक्कारा और उस साधु की अंतरंग चेष्टा में उसका मन लगा ।

निर्मोहता का अभ्युदय – वज्रभानु साधु की मुद्रा को बहुत देर तक देखता रहा । साला दिल्लगी करता है – क्या मुनि बनना चाहते हो ? वज्रभानु के मन में साधु बनने की ही बात आयी हुई थी, पर थोड़ा सा इस संकोच में था कि साथ में ये दो हैं, इनको मैं क्या कहकर बनूँ मुनि ? लेकिन साले ने जो दिल्लगी किया कि क्या तुम मुनि बनना चाहते हो ? तो उसे थोड़ा सा मौका मिल गया जवाब देने का । बोला — मैं मुनि बनूँगा तो क्या तुम भी बनोगे? उदयसुन्दर कहता है — हां तुम बनोगे तो मैं भी बन जाऊँगा । उदयसुन्दर को बनना न था, किन्तु जानता था कि यह इतना आसक्त मोही पुरुष क्या मुनि बनेगा ? लो, वज्रभानु सारी वेशभूषा उतार कर साधु हो गया । ऐसी अचरज भरी घटना देखकर उदयसुन्दर का भी चित्त बदल गया । वह भी निर्मोह हो गया और साधु बन गया । जब मोह हट जाता है तो यह फिकर नहीं रहती कि अब यह स्त्री रह गयी है । अकेली यह क्या करेगी, कहां जायेगी ? उन दोनों को यों साधु होते देखकर स्त्री के चित्त में भी विचित्र परिवर्तन हुआ, वह भी वहीं पर आर्यिका हो गयी । देखो अचानक ही क्या कर दिया ? सकल संन्यासी हो गये ।

अकर्तृत्व का दर्शन – भैया ! अधिक कुछ पुरुषार्थ न हो तो इतना तो मानों कि गृहस्थावस्था में कभी भी ऐसे ख्याल मत बनावो कि मैं ही इनको पालता पोषता हूं, मैं ही इनको सुखी दु:खी करता हूं । अरे घर के सभी जीवों के साथ अपना-अपना भाग्य लगा है । मैं भी एक जीव हूं । अपना ही सब कुछ अपने में लिए हुए हूं । मेरा मेरे से बाहर किसी अन्य से रंच भी सम्बन्ध नहीं है । होता स्वयं जगत परिणाम । सबके भाग्य है, उनके कर्मोदय से उनका जीवन–मरण सुख अथवा दु:ख होता है । मैं उनका कुछ करता नहीं हूं । मैं भी केवल अपने विभाव विचार बनाया करता हूं । कोई दिन तो ऐसा होगा कि सर्व कुछ छोड़कर मैं अकेला बन जाऊँगा । शरीर भी साथ न निभायेगा । और परमार्थता तो यहां घर में बसकर, कुटुम्बियों के बीच रहकर भी मैं अकेला ही हूं – ऐसा अपने एकत्त्व का आदर हो गृहस्थ के तो उसे आकुलता नहीं हो सकती । जहां यह बात मन में बैठी है कि मुझे तो इन नाक थूक भरे हुए चेहरों में यह जताना है कि मैं भी कुछ हूं । जहां ऐसी भावना जगी कि क्लेश वहां से शुरू हो जाते हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानी का विलास – अहो, ज्ञानी संत की वृत्ति अलौकिक होती है । जैसे किसी वस्तु में गहरा स्वार्थ भरा हो तो वह उस स्वार्थ के कारण बेशरम हो जाता है, अपनी ही बात रखता है, चाहे लोक में कितना ही अपयश हो जाय ? यों ही जिसे इस ज्ञायकस्वभावी आत्मा

को ज्ञान में उतारने की धुन लगी है, ज्ञानानुभूति के परिणमन का ही उत्साह जग रहा है, ऐसे ज्ञानी पुरुष को दूसरे आदमियों का संकोच नहीं रहता है । यह अज्ञ मनुष्य दूसरों की दया करने के लिए घर में नहीं फंसा है किन्तु उसे स्वयं ही एक मोह की वेदना ऐसी लगी है कि वह अपने को सबसे विविक्त समझ ही नहीं पाता है । ऐसी स्थिति में क्या हाल होगा ? हाल यही होगा कि दुखी होता चला जायगा, कोई उन्नति की बात नहीं हो सकती है ।

अकारण स्वरूपभ्रष्टता – गृहस्थों को ध्यान देने योग्य एक बात यह भी है कि जिस बात के लिए तड़फन मच रही है, किस बात के लिए कि मैं धनी बन जाऊँ और लोक में मेरी इज्ज़त बन जाए, ये दोनों ही बातें उसके ऊपर निर्भर नहीं हैं । लोक में इज्जत बढ़ जाना भी इसके हाथ की बात नहीं है । यहां तो अपना सदाचार कीजिए, फिर जो होगा वह स्वयं होगा। कोई अपनी किसी बात पर सम्मान बुद्धि बढ़ावे तो क्या सम्मान होता है ? कोई अपनी इज्जत व पोजीशन को अक्ल का दिवाला खोलकर मन, वचन, काय से बढ़ाने का यत्न करे तो क्या इज्जत बढ़ जाती है ? ये दोनों ही बातें इसके अधिकार की नहीं हैं । फिर किसलिए स्वरूपभ्रष्ट होकर इन बाह्यअर्थों में लगा जाए ?

स्वयं की स्ववशता – मैं तो एक ज्ञानानन्दमात्र आत्मज्योति हूं । यह अपना समस्त धर्मपालन इसको मौन रहकर गुप्त रहकर अपने आपके ही अन्तरङ्ग में अन्तर्ज्ञान के उपाय से किए जाने की बात है । मैं दूसरों को कुछ दिखा दूं — ऐसा परिणाम बहुत कलुषित परिणाम है । धर्म का पालन जहां दूसरों को बताने के लिए किया जा रहा हो, वहां धर्म का पालन नहीं होता । यहां कोई मेरा प्रभु नहीं है कि मैं कैसा चलूं, कैसा बनूं, लेकिन कोई अन्य मेरा उद्धार कर दे – ऐसा किसी दूसरे के वश का नहीं है । फिर किसमें मैं अपने उपयोग को फंसाऊँ ? ऐसी भेदवासना सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान में रहा करती है ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय – सीधी सी बात यह है कि परिजन और वैभव का मोह न होना चाहिए । यदि मोह होगा तो मोह की प्रकृति तो आकुलता को उत्पन्न करने की है । ये सब ज्ञान की बातें हैं । घर छोड़ने की बात तो यहां कही नहीं जा रही है । इस दृष्टि में यह मनुष्य घर को कब पकड़े है ? जब घर को पकड़े हुए नहीं है तो घर को छोड़े कैसे ? यह तो अपने प्रदेशों में बसता हुआ विकार बनाया करता है । किसी अन्य वस्तु से यह जीव फँसा नहीं है, किन्तु अपनी अज्ञानमय कल्पना से यह जीव फंसा हुआ है । मोह करें और सुख की आशा को रक्खें तो यह त्रिकाल में तो हो ही नहीं सकता ।

सत्य ज्ञान हो जाये कि मैं इतना हूं, केवल हूं – ऐसा अन्तरङ्ग में निर्णय और अनुभव जग जाय तो यह हुआ कल्याण का मार्ग । मैं तो केवल ज्ञानप्रकाशमात्र हूं, ऐसा निज को अनुभवता

है अर्थात् मुझे अन्तरङ्ग में सुख को उत्पन्न करती हुई एक शुद्ध ज्ञानज्योति बनानी है । बस इस प्रकार का उत्तम ज्योतिस्वरूप ही मैं होऊँ, अब मैं अन्य कुछ भी तो नहीं होना चाहता हूं ।

अन्तर में आशय का स्वाद – देखो भैया ! अन्तर में आशय शुद्ध है तो उसको आनन्द का अनुभव होता है और यदि अन्तर में आशय मलिन है तो उसे क्लेश का अनुभव होगा । एक राजा ने मंत्री से मजाक किया सब लोगों के बीच कि मन्त्री ! मुझे ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनों घूमने जा रहे थे । रास्ते में दो गड्ढे मिले । एक गड्ढे में गोबर व मल भरा हुआ था और एक गड्ढे में शक्कर भरी हुई थी । हम तो शक्कर के गड्ढे में गिर गए और तुम गोबर व मल वाले गड्ढे में गिर गए । मन्त्री बोला कि महाराज ! हमने भी बिल्कुल ऐसा ही स्वप्न देखा कि हम तो गिर गए गोबर व मल के गड्ढे में और तुम गिर गए शक्कर के गड्ढे में, पर इससे आगे थोड़ा स्वप्न और देखा कि हम तो तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमको चाट रहे थे ।

अब यह बतलाओ कि राजा को क्या चटाया ? मल व गोबर । स्वयं ने क्या चाटा ? शक्कर। तो देखो राजा पड़ा तो है शक्कर के गड्ढे में, पर स्वाद ले रहा है गोबर और मल का । मन्त्री पड़ा तो है गोबर और मल के गड्ढे में, पर स्वाद ले रहा है शक्कर का । यों ही गृहस्थ को होना चाहिए कि गृहस्थी में रहकर आत्मस्वरूप का ध्यान रक्खे । अरे इस दुर्लभ नरजन्म से वास्तविक आनन्द लूट लो । वह वास्तविक आनन्द क्या है ? सर्वबाह्यअर्थों को भूलकर निज के सहजज्ञानस्वरूप का अनुभव कर लो । एक क्षण भी, एक सेकिण्ड भी और एक पल भी इस निजज्ञायकस्वरूप का अनुभव कर लो तो उस ज्ञानामृत का स्वाद आएगा, जिसमें भगवान निरन्तर छके हुए रहते हैं ।

श्लोक 52

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दु:खमथाऽऽत्मनि ।
बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मन:॥५२॥

आरब्धयोग के अध्यात्मशमन में कठिनाई – पूर्व श्र्लोक में यह बताया गया था कि समस्त बाह्यपदार्थ या दृश्यमान जगत् मेरा कुछ नहीं है, इस कारण इस जगत् से प्रीति हटाकर अपनी इन्द्रिय को नियन्त्रित करो और परमविश्राम करके अपने आनन्द सहित जो कुछ दिखता हो, वह मैं आत्मा हूं – ऐसी अनुभूति करो । वहां क्या दिखा ? ज्ञान और आनन्द में दिखा अर्थात् अनुभव हुआ । यह बात सुनकर यह आशंका मन में हो ही जाती है कि जब ऐसा ज्ञान और आनन्द मेरा स्वरूप है, सहजभाव है तो एक तो यों ही दु:ख न रहना चाहिए था और जब उस

कल्याणमार्ग में कदम रखते हैं तो वहां पहिले क्यों ऐसा लगता कि इस आत्मा के कार्य में तो क्लेश हुआ ।

उसके समाधान में यह उपदेश दिया जा रहा है कि जिस किसी ने भी आत्मभावना का अभ्यास कुछ प्रारम्भ किया तो उन समस्त जीवों को बाहर में सुख मालूम होता है और अन्तर में बहुत ही रोष व दु:ख मालूम होता है ।

प्रथमाभ्यास में आन्तरिक अस्थिरता – जैसे जिसे पानी में डुबकी लगाने का अभ्यास नहीं है, पानी में घुसे ही घुसे बहुत दूर तक अन्दर ही अन्दर तैर कर निकल जाने का जिन्हें अभ्यास नहीं है ऐसे पुरुष को जबरदस्ती पानी में डुबकी लगवायी जाती है तो वह बाहर उठना चाहता है । उसे पानी में क्लेश मालूम होता है और वह बाहर में अपना सिर निकालने में सुख अनुभव करता है । और जिसने अभ्यास कर लिया है वह तो खुशी खुशी अन्दर- अन्दर तैरा करता है, ऐसे ही समझो कि जिसने इस आत्मभावना का अभी-अभी अभ्यास प्रारम्भ किया है ऐसे पुरुष को बाहर में तो सुख मालूम होता है और अपने आपमें दु:ख मालूम होता है । पद्मासना से बैठो, देखो कमर बिल्कुल सीधी करो, आंखें बंद करो, भीतर अपना चित्त लगावो । अरे करता है कोशिश पर दिल चाहता है कि कुछ देख तो लूँ, क्या है सामने ? चित्त चाहता है और वैभव सम्पदा में यह उपयोग दौड़ जाता है । भीतर सुन्नसा होकर कुछ मालूम करना चाहता है तो एक घबड़ाहट सी मालूम होती है । जिसने इस आत्मभावना का अभ्यास अभी अभी ही प्रारंभ किया है उसे बाहर में तो सुख लगता है और आत्मस्वरूप की भावना में दु:ख प्रतीत होता है । किन्तु जिसने आत्मभावना को खूब किया है, आत्मतत्त्व के ध्यान के जो अभ्यासी हैं उनको बाहर में तो क्लेश मालूम होता है और अपने आपके आत्मा में सुख मालूम होता है ।

ज्ञानदृष्टि में अध्यात्मरमण की सुगमता – भैया ! अज्ञान के समान विपत्ति और कुछ नहीं है। लोक में भी यह धन वैभव सम्पदा कोई सुख की बात नहीं है । कदाचित् यह कहो कि पचासों आदमियों में कुछ इज्जत तो हो जाती है, अरे वे पचासों भी विनाशीक हैं, मायारूप हैं, अपवित्र हैं और उनमें चाहने वाली इज्जत भी मायामयी है, विनाशीक अपवित्र है। कौन सा लाभ हुआ ? धर्म की ओर दृष्टि नहीं है तो लाखों और करोड़ों की सम्पदा भी मेरे पतन के लिए है और वर्तमान में भी मेरा पतन है और धर्म दृष्टि है तो चाहे भीख मांगकर भी पेट भर लो । धर्म दृष्टि होने से वह आत्मा पवित्र है, शांति और संतोष का पात्र है । यों जिन्होंने आत्मतत्त्व को जानकर इसका अभ्यास कर लिया है उन पुरुषों को बाह्य पदार्थों में अपने चित्त को डालने में क्लेश मालूम होता है और अपने आपके स्वरूप में जाननरूप के उपाय से बसे रहने में आनन्द मालूम होता है ।

निरूपद्रव स्थान से बाहिर गमन की निरुत्सुकता – जैसे सावन के महीने में जब कि तेज मूसलाधार पानी बरस रहा हो, बिजली भी कड़क रही हो और कोई पुरुष ऐसे कमरे में बैठा हो जहां पानी नहीं चूता है, आराम की जगह है, उस पुरुष को बाहर जाना तो कष्टदायी मालूम होता है और कमरे में बैठे रहना सुखदायी मालूम होता है । इसी तरह जब कि संसार में सर्वत्र आपत्ति, धोखा, छल, स्वार्थ सारे उपद्रव बरष रहे हों और जिन उपद्रवों के बीच अपनी जान का भी खतरा हो ऐसे इस उपद्रव बरष रहे जगत में यदि मुझे कोई ऐसा आराम का स्थान मिल जाय – निज गृह, ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा के तत्त्व का परिचय, यह आत्ममंदिर, यह बैठने को मिल जाय जहां कि विपदा छू नहीं सकती है, संकट आ नहीं सकता है, तो ऐसे परम विश्राम की जगह में बैठा हुआ मनुष्य बाहर क्या जाना चाहेगा ? उसे बाहर क्लेश मालूम होता है और अपने अन्तरङ्ग में सुख मालूम होता है ।

आत्मानुभूति के अभाव में विश्व की बुभुक्षा — वास्तव में तो आत्मा का अनुभव ही आनन्द का कारण है, किन्तु जिसने अपने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं किया उस पुरुष को आत्मभावना में तो क्लेश मालूम होता है और इन्द्रिय विषयों में उसे सुख मालूम होता है । पूर्व संस्कार भी तो हैं ना, उसके कारण इसे विषयों के सुख रुचा करते हैं । इस जीव ने इस संसारचक्र में भ्रमण करते हुए निरन्तर भ्रांति से क्लेश पाया । इसकी चाह यह रही कि मैं सारे विश्वपर एक छत्र तक राज्य कर लूँ । इस उन्माद के कारण यह सारे विश्व को अपनाना चाहता है ।

विषयचक्र में उलझन – भैया ! यह मूढ़ जीव अपनाता क्या है, पंचेन्द्रिय के विषयों को भोगता रहता है । सो ये विषय तो नियत हैं, थोड़े हैं, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द – पांच प्रकार के ही तो काम हैं, एक ले लो मन का काम, इज्जत चाहिए, लोगों से दो बोल प्रशंसा के सुनने की धुन हो, लो यों ६ विषय हुए । यह जीव इन ६ प्रकार के विषयों में ही तो रात दिन लगा रहता है । ७वां काम और क्या करता है ? इसकी दिनचर्या देखो – सुबह हुआ, मन बहलाया, मंदिर भी आया तो मन बहलाने का काम किया, जो लोग दिखे उनमें कुछ इज्जत चाहने का काम किया । मंदिर से चला – अब भोजन का काम किया । रसना का विषय सेया । रसना के बाद घ्राण का विषय सेया । कुछ चाहिए इत्र फुलेल सूँघना । फिर आंखों का विषय सेया, फिर शब्दों का विषय सेया । देखो – वे ही विषय रोज-रोज भोगे जाते हैं, पर यह उन विषयों से अघाता नहीं है । रोज-रोज ही प्राय: विषयों को नवीन वस्तु मानता है ।

अज्ञान का नाच – भैया ! करे क्या यह ? अज्ञान की चश्मापाटी इसकी विवेक की आंखों पर जड़ी हुई है । सो यह अंधा होता हुआ कोल्हू के बैल की तरह उन्हीं ६ विषयों में चक्कर लगाता रहता है । यह कोई नया काम तो नहीं कर रहा है ? वही दाल रोटी कल खाया था, वही आज

खाया और वही कल खावेगा तो भी वह नयासा ही मालूम पड़ेगा । खूब अच्छा नया सा स्वाद लगता है । यों ही इन पंचेन्द्रिय के विषयों में इस जीव ने भ्रम से नई नई बातें समझीं और इतना ही नहीं कि केवल खुद ही विषयों में फंसा रहा, किन्तु दूसरों को भी इन विषयों में फँसाने का यत्न कर रहा है । इस ही यत्न में अपना सारा समय व्यतीत कर डाला ।

स्वप्नविलास में परमार्थ का तिरस्कार – यह अपने आत्मा में विराजमान्, अंत:प्रकाशमान, आनन्दनिधान, चित्स्वरूप बसा हुआ है किन्तु इसको इस जीव ने नहीं देख पाया, क्यों नहीं देख पाया कि इसने अपने आपके कषायसमूहों को एकमेक कर डाला । जो मैं क्रोध कर रहा हूं वही तो मैं हूं । अपने आपकी की हुई बात गलत नहीं दिखायी देती है। यह अज्ञान बड़ा विकट अंधेरा है । अज्ञान के समान और क्या क्लेश कहा जायेगा ? स्वप्न में सैकड़ो आदमी प्रशंसा कर डालें तो स्वप्न देखने वाला स्वप्न के समय बड़ा खुश हो रहा है, मगर वहां तो सब इन्द्रजाल है, मायारूप है, केवल कल्पना की बात है । यों ही इन आंखों की जगती हालत में भी जो कुछ दिख रहा है, जो बर्तावा हो रहा है यह भी स्वप्न की भांति है, मायारूप है, यह भी परमार्थ कुछ नहीं है । ऐसे इस सहज चित्विलास के देखे बिना जगत् में यह जीव भटकता है ।

निजविश्राम का आग्रह – देखो अपने आपमें अपने विश्राम को पाकर निहारो तो जरा, यह मैं उत्तम ज्ञानस्वरूप आनन्दममय हूं । अब इसको पाने की कुछ तरकीब करिये । उसके प्रथम उपाय के करते हुए में कष्ट मालूम होगा । लेकिन जिसे इस आत्मस्वरूप का परिचय हो जाता है उसके लिए यह अत्यन्त सुगम हो जाता है । जिसे इसका परिचय नहीं है उसको यह अत्यन्त दुर्गम रहता है । जब कभी भी सुखी होने का अवसर आयेगा तो इस ही उपाय से आयेगा, ज्ञानानुभव के उपाय से ही आयेगा । अन्य प्रसंगों में क्या लाभ है ? अपना ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप को निहारता रहे तो इसमें मुझे लाभ है और बाकी तो सब यों ही जानो जैसे कि लोग कहते हैं कोयला की दलाली में हाथ काले । अरे वहां कोयला की दलाली में फिर भी कुछ मिलता है पर इस समागम की दलाली में कुछ नहीं मिलता और गांठ का खोकर चला जाता है । जो बल था, विवेक था, दृष्टि करने की जो कला थी वह सब समाप्त हो जाती है । यहां विषयों के प्रसंग में उलटी हानि होती है ।

आन्तरिक स्वच्छता की मूल आवश्यकता – हे आत्मन्, थोड़ा थोड़ा लोगों के कहने के अनुसार अथवा बताने के अनुसार कुछ धार्मिक प्रक्रिया करें, इसकी अपेक्षा तो यह प्रथम कर्तव्य है कि ज्ञानार्जन करके ज्ञानप्रकाश के अनुभव द्वारा अपने आपके आत्मा को स्वच्छ कर लिया जाये । कोई कारीगर या कोई चित्रकार भींत को स्वच्छ करने में महीनों बिताए और फिर किसी दिन चित्राम बनाया तो फिर वह चित्राम कितना मन को हरने वाला होता है। कोई ऐसे ही फूटी

फफूड़ी भींत में चित्राम बनाए तो उसने समय भी खोया, श्रम भी बहुत किया, पर न चित्राम की वहां शोभा है और न उसमें कुछ स्थायीपन है । यों ही अपने मन को शुद्ध किए बिना धार्मिक धुन में हम श्रम भी कर डालें तो भी वहां कुछ लाभ नहीं मिलता है और ज्ञानार्जन से और ज्ञानानुभव से चित्त की स्वच्छता बढ़ायी तो वहां लाभ प्राप्त होता है।

भैया ! मत डरो, प्रथम ही प्रथम आत्मा के हित के प्रसंग में, ज्ञान के आचरण में कुछ कष्ट होता है, उस कष्ट से मत डरो—ऐसा होता ही है, क्योंकि संस्कार पुराने बेहूदे चले आये हैं । आज एकदम सत्य तत्त्व में निर्विघ्न कैसे प्रवेश हों ? मत डरो, किन्तु यत्न यह करो कि कुमार्ग से हटकर हम सन्मार्ग में ही लग जायें ।

वासनानुसारिणी प्रवृत्ति — भैया, क्या करें ? कितना ही सिखाया जाय अपने को, किन्तु प्रवृत्ति ऐसी हो जाती है, जैसी कि वासना हमारी पहिले समय की भरी होती है । एक सेठ के तीन लड़के थे । मगर तीनों थे तोतले और अन्य नगर में एक और सेठ था, उसके तीन लड़कियां थीं । सगाई के खातिर उसने नाई को भेजा । पहिले सगाई नाई के माध्यम से हो जाया करती थी । खवासजू की भी पद्धति हटी तो बाबाजी देखने जाते थे, फिर चाचा का नम्बर आया, फिर बाप का नम्बर आया, अब तो वह भी पद्धति हटी । अब तो लड़का खुद ही सारी निगरानी करने जाता है । खैर, जब नाई आया तो सेठजी ने लड़कों को खूब सिखा दिया कि देखो तुम लोग चुप बैठना, सगाई होगी, कोई भी कुछ कहे तो तुम बोलना मत । वे चुप बैठ गए ।

सेठ ने उन्हें खूब सजा दिया । कोट, कमीज, टोपी, श्रृंगार, आभूषण से खूब सजा दिया। नाई ने जब उन्हें देखा तो नाई उनकी बड़ी प्रशंसा करने लगा । वाह ! ये लड़के तो इन्द्र के जैसी मूर्ति हैं । इनके गुणों को क्या कहा जाए ? ये तो बड़े भाग्यवान् हैं, बड़े सुहावने हैं । इतने में एक लड़का कहता है कि ऊँह ! अभी टण्डन मण्डन (चन्दन वन्दन) तो लगाई नहीं है, नहीं तो बड़े टुन्डर (सुन्दर) लगते । प्रशंसा के शब्द सुनकर वह फूला न समाया । दूसरा लड़का बोला कि पिटा (पिता) ने कई ती कि बोलो नहीं, टुप (चुप) रहो । तीसरा लड़का कहता है कि अरे ! टुप टुप। ओह, जैसी उन सेठ के तोतले लड़कों में योग्यता थी, वैसा ही परिणमन किया । कहां तक बाहरी रूप सजाया जाए ? जो बात है, वह प्रकट हो ही आती है।

गुप्त की गुप्त साधना — हे मुमुक्षु आत्मन् ! धर्म तो करना है शान्ति के लिए, दिखावे के लिए धर्म नहीं करना है । दिखावे के लिए किया गया धर्म अधर्म ही है । धर्म कहां रहा ? जिस वृत्ति में बाह्य पदार्थों पर दृष्टि है, उस वृत्ति को धर्म कैसे कहा जाए । खुद समझने के लिए धर्म है । अपने ही आप में गुप्त रहकर गुप्त ही गुप्त इस आनन्द को पाया जाए तो यह धर्म हुआ और

कुछ दिखावे की बात की जाए तो उससे समय भी खोया, श्रम भी किया, धन भी खोया, लाभ के बदले अलाभ मिला ।

सम्यग्दृष्टि की निःस्पृहता – जीव विषयों के सुख की चाह करता है, मनुष्य भी करता है, यह प्राकृतिक बात है । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष दुकान जाता है तो किसलिए जाता है ? लूटने के लिए जाता है या दो पैसे कमाने के लिए जाता है ? क्या उसकी चाह यह नहीं है कि मैं दुकान जा रहा हूं तो कुछ आमदनी हो जाए ? है चाह । सम्यग्दृष्टि के यथापद चाह रहती है, किन्तु धर्मधारण करके विषयों के समागम की इच्छा बनाए, इस धर्म एवज में पैसे का लाभ हो अथवा अन्य लाभ हो – ऐसी कामना करे तो यह अधर्म हो गया ।

वैसे तो सभी को चाह रहती है कि ज्ञानी गृहस्थ भी दुकान पर जाता है तो क्या यह नहीं मन में सोचता कि कुछ आय बने, पर वह वहां लोकव्यवहृत नहीं किया गया है, पाप नहीं किया गया है, किन्तु वह एक मध्यम बात हुई है । न पुण्य हुआ, न पाप हुआ अथवा जैसा आशय है, उस आशय के अनुसार बात बनी । पर धर्म धारण करके एक पैसे की भी इच्छा की जाए तो वहां सम्यक्त्व धारण नहीं हो सकता ।

ज्ञानोन्मुख भाव – भैया ! पूजा भजन करके धन, स्त्री, पुत्र आदि मांग लेवे, इसे क्यों दोष में शामिल किया है ? सुनिए, सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्म को धारण करके सांसारिक सुखों की इच्छा को दूर करता है । सुख नहीं चाहता । वैसे चाहता है सुख किसी पद तक और वह भी निवृत्ति की इन भावनाओं को रखकर, पर धर्म के एवज में लौकिक प्राप्ति नहीं चाहता है । जिससे आग बुझाई जाती है, वह जल ही यदि ज्वाला देने लगे तो फिर शमन का उपाय ही क्या ? जिसने इस लौकिक भावना का अभी अभी ही अभ्यास किया है, उसे अन्तर की यह तपस्या बड़ी कठिन मालूम होती है और जो भावना बहुत कर चुका, उसे सब सरल विदित होता है । हुआ जो कुछ है होओ, किन्तु निर्णय एक रक्खो कि आत्मज्ञान और आत्मभावना में ही हमारा हित है । इन बाह्य पत्थर, धन, वैभव, चांदि और सोना आदि में सर मारने से हमारा आत्महित नहीं है ।

श्लोक 53

तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ।।५३।।

अध्यात्मसुखसिद्धि के उपाय का वर्णन – इससे पहिले यह कहा गया था कि जिसने ज्ञान का योग पहिले-पहिले ही प्रारम्भ किया है उसको अपने आत्मा में टिकना कठिन लगता है और उसे बाह्यपदार्थों में लगने में सुख भी मालूम होता है और अपने आप में रत रहने में उसे कष्ट मालूम होता है, किन्तु जिसने अपने इस ज्ञानमय स्वरूप की बार बार भावना की है और इसका दृढ़ अभ्यास किया है, उसे बाहर में लगना कष्टदायी मालूम होता है और अपने आपके आत्मा में स्थिर होना, रत होना सुखदायी मालूम होता है । ऐसी बात सुनने पर जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा प्रकट कर रहा है तो ऐसी सिद्धि बनाने के लिए हमें करना क्या चाहिए ? इसके समाधान रूप मानों यह उत्तर दिया जा रहा है कि उस बात को बोलो, उस बात की चाह करो, उस ही को दूसरों से पूछो और उस ही में लीन हो जावो, जिसके कारण यह आत्मा अविद्यामयस्वरूप को छोड़कर विद्यामयस्वरूप को प्राप्त हो जाए ।

निज का पर में अनधिकार – इस जीव का अन्य कोई साथी नहीं है । साथी कोई हो ही नहीं सकता । वस्तुस्वरूप प्रत्येक में अपना अपना है, अपना ही स्वरूप है, अपना ही परिणमन है, अपने में अपना ही अधिकार है । किसी भी जीव का किसी अन्य जीव पर अधिकार नहीं है, किन्तु अपने स्वार्थभाव के कारण एक दूसरे से लगे हुए हैं व उनकी गोष्ठी बनी हुई है । इस गोष्ठी में कोई यह सोचे कि मैं अमुक को यों करता हूं या मेरे बल पर ही इन सबका जीवन है । इस बात को सोचना विचारना तो व्यर्थ की बात है ।

तुम तो केवल अपने परिणाम भर बनाते हो । विकाररूप बनाओ, शुभ बनाओ, अशुभ बनाओ, शुद्ध बनाओ, अपने परिणाम करने के सिवाय अन्य कुछ कार्य नहीं करते । प्रत्येक पदार्थ है, अपने स्वरूप से है, पर के स्वरूप से नहीं है, अपने में ही परिणमता है, किसी अन्य में परिणमन नहीं करता है । ऐसे अपने स्वरूपास्तित्त्व से सद्भूत प्रत्येक पदार्थ केवल अपना ही अपने आपका स्वामी है । जब ऐसा प्रत्येक जीव का, प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है तो अब मेरा सुधार और बिगाड़ किस बाह्यपदार्थ से होगा ? मैं ही अपने भावों को बुरा बनाकर बिगाड़ कर लेता हूं और अपने ही भावों को शुद्ध बनाकर सुधार कर लेता हूं ।

हितकर वचन से लाभ – भैया ! जब हमको वचन व्यवहार में लगना पड़ रहा है तो ऐसी बात बोलें जिस बात के बोलने से अज्ञानमय भाव तो हटे और ज्ञानमय भाव हो जाय अर्थात् आत्मस्वरूप का कथन करें । धन्य है वह वातावरण, धन्य है वह समागम, धन्य है वह सत्संग, जहां रहकर इसका उपयोग विशुद्ध रह सके और केवल अपने आपके प्रतिबोध में संतुष्ट रह सके । ऐसी ही बात बोलना उचित है जिससे इस जीव का विद्यामय, आनन्दमय स्वरूप प्रकट होवे । विषय और कषायों में लगने की बात बोलने वाले इस जगत् में अनेक हैं। घर के लोग,

मित्र लोग, रिश्तेदारजन प्राय: सभी इसे विषय और कषायों में लगाने वाले हैं। कोई राग की बात में लगाते हैं तो कोई द्वेष की बात में लगाते हैं, उकसाते हैं । ऐसे पतन के गर्त में पटकने के वचन दुनिया में बोलने वाले अनेक हैं, किन्तु ऐसे वचन दुर्लभ हैं जिन वचनों को सुनकर अशुभ संस्कार का संताप दूर कर लें और अपने अध्यात्मज्ञान सुधारस का भान कर सकें । ऐसी ही बात हम दूसरों की सुनें और ऐसी ही बात हम बोलने का यत्न करें।

संतापहर वचन – नीतिशास्त्र में वचनों की शीतलता का ऐसा वर्णन किया गया है कि सज्जनों के वचनों में ऐसी शीतलता भरी हुई है जैसी शीतलता न तो किसी नदी के जल में है, न किसी चंदन में है, न किसी बर्फ घर में है । कोई पुरुष चिंता से व्याकुल हो रहा हो, उसे बर्फ के घर में रखा जाय तो क्या वह बर्फ उसके चित्त को ठंडा कर सकती है ? नहीं कर सकती किन्तु भेदविज्ञान के वचन ज्ञानरूप ऐसी सामर्थ्य रखते हैं कि बड़ी चिंताएं भी हों तो वे सब शांत हो जाती हैं ।

निरापद वचन – इस लोक में चिंता ही क्या है ? चिंता बनायी जाती है, चिंता योग्य बात कुछ नहीं है । न रहा धन ज्यादा, इससे कौन सी हानि है ? मिला हुआ धन चला गया तो इसमें कौन सी हानि है आत्मतत्त्व की ? अन्य-अन्य भी विपत्तियां सोच लो इष्ट वियोग हो गया, अनिष्ट संयोग हो गया तो इसमें कौन सी हानि इस आत्मतत्त्व की हो गयी ? लेकिन ज्ञानानन्दनिधान आत्मस्वरूप को भूलकर जो बाह्यपदार्थों में मोह बुद्धि लगाये हैं बस इसी से दु:ख होगा । यह परिणाम ही दु:खस्वरूप है । उस दु:ख को मेट सकने वाले जो वचन हैं उन वचनों का सुनना और ऐसे वचनों का बोलना यह ही है अध्यात्मिकता में रमने का एक उपाय। जिस वचन से अज्ञान संस्कार मिटे और ज्ञान संस्कार बने, ऐसी ही बात बोलनी चाहिए ।

वचनसामर्थ्य – जैसे किसी घर में इष्ट पुरुष का वियोग हो जाय तो बहुत से लोग समझाने आते हैं । उनमें से जो यों समझाते हैं अरे बड़ा अच्छा था, सबकी खबर लेता था, अब तो सूना-सूना हो गया, तो इन शब्दों को सुनकर उस गृहस्थ पुरुष को और दु:ख हो जाता है और कोई यों समझाता है कि सब जीव न्यारे हैं, कौन किसका साथी है, अपने-अपने भाग्य से आते जाते हैं, किसी का किसी पर अधिकार नहीं है, ऐसी बात कोई सुनाए तो वह गृहस्थ कुछ धैर्य धारण करता है । तो देखो वचनों से ही वह पुरुष अधीर हो गया था और वचनों से ही उस पुरुष में धैर्य बन गया है । मनुष्य का धन एक वचन है ।

सद्‌वचनव्यवहार – नीति कहती है 'वचने का दरिद्रता ।' अरे वचनों के बोलने में क्या दरिद्रता करना है ? थोड़ी इतनी हिम्मत बनाओ मन में कि कोई कषाय जगती भी हो तो उस कषाय को

पी लो, छुपा लो व वचन ऐसे बोलो कि जिन वचनों को सुनकर आगे झगड़ा न बने और दूसरे सुखी हो जायें । थोड़ी ही देर बाद जो इतनी कषाय दबाई है सो ज्ञानभावना से अपने से उस कषाय को दूर कर लो । कषायों को रखने के लिए दबाने की बात नहीं कह रहे हैं किन्तु वचनों से आगे विवाद न बढ़े ऐसी स्वरक्षा के लिए कषायों को दबाना ही चाहिए । बाद में ज्ञानभावना से कषायों को दूर कर लेना चाहिए । मनुष्य के पास मात्र एक वचन ही धन है । बड़े विशाल नेता ज्ञानी संत जन और करते ही क्या हैं ? एक वचनों से ही सही व्यवस्था और कल्याणमार्ग बना हुआ है । इस कारण वचन ऐसे बोलने चाहियें जिससे राग द्वेष मोह बढ़ाने वाली बात न आये, किन्तु संतोष शांति और ज्ञानप्रकाश बढ़ाने वाली बात आये ।

दुर्लभ वचन का सदुपयोग – इस जीव को अनादिकाल से भटकते हुए में अनन्तकाल तो एकेन्द्रिय में बीता, वहां तो बोलने के लिए जिह्वा ही नहीं मिली, दो इन्द्रियां मिलीं, जिह्वा मिली तो भी कोई ठीक-ठीक भाषा न बोल सका, टेंटें, चेंचें ही कर सका । फिर यह जीव तीन इन्द्रिय हुआ, चार इन्द्रिय हुआ, असंज्ञी पंचेन्द्रिय भी हुआ, पशुपक्षी बना, तब तक भी यह जीव वचनों का आदान प्रदान व्यवहार न कर सका । सुयोगवश आज हम आप संज्ञी पंचेन्द्रिय हुए, मनुष्य हुए, श्रेष्ठ मन वाले हुए, जरा ध्यान तो दो कि हम कितनी अवनतियों से, गड्ढों से निकलकर आज श्रेष्ठ नरभव में आये हैं । इस समय भी यदि हमने अपने आपके आत्मा को सावधान न रक्खा, पूर्व की ही भांति विषय कषायों में रत रहा और इसी कारण हमारा वचन व्यवहार भी खोटा रहा, खुद विषय-कषायों में फंसे, दूसरे भी विषय-कषायों में फंसे, ऐसी प्रेरणा करने वाले वचनों का ही व्यवहार रहा तो फिर वही दशा होगी कि जैसे कि पशुवों के वचनों का आदान प्रदान नहीं होता है । इस कारण ऐसी ही बात बोलें जिससे कि अज्ञानभाव दूर हो और ज्ञानभाव प्रकट हो ।

स्वपरहितकर वचन – हम दूसरे से कुछ पूछें तो वह बात पूछें जिससे अज्ञानभाव दूर हो और ज्ञानभाव प्रकट हो । आत्मा की सावधानी की बड़ी जरूरत है । लेकिन प्राय: व्यामोहीजन बोलते हैं तो मान पोषण के लिए बोलते हैं । मान किसका कहां रहा ? यहां तत्त्वज्ञान की बात बोलना तो एक इस प्रकार है जैसे बड़ी गहरी स्थिति में हम आप फंसे हैं । ऐसी स्थिति में कुछ ऐसे तत्त्व पर दृष्टि देनी चाहिए, ऐसी बात बोलनी चाहिए जिससे कि स्वयं की और दूसरों की भी दृष्टि कल्याण के लिए बने, ऐसा सहयोग हो रहा है । कोई मैं समझा नहीं रहा हूं, मैं कुछ बढ़ चढ़ करके नहीं हूं किन्तु एक कार्य हो रहा है कल्याण का, उसमें सहयोग हो रहा है । हम भी अपने आप को चेता सकें, श्रोता भी अपने आप को चेता सकें, ऐसी वाणी ऐसे वचन कहना आवश्यक है – इस समय इसलिए बोलना पड़ रहा है । ऐसी दृष्टि से बोलें, किन्तु मैं सबको

समझाने वाला हूं, वक्ता हूं, ऐसी मन में प्रतीति विश्वास रखकर मान कषाय के पोषण के लिए बोलने में हित नहीं है ।

समीचीन पृच्छना – इस ही प्रकार कुछ बात पूछें तो वह भी आत्महित की दृष्टि से पूछें। मैं कोई ऐसी बात पूछूँ जिससे दूसरा निरुत्तर हो जाय और लोग समझें कि हां यह भी कोई समझदार है, ऐसे आशय से पूछी हुई बात खुद के अंतरङ्ग को पतन करने के लिए होती है, उसमें आत्मकल्याण नहीं है । बात भी कोई पूछे तो ऐसी पूछे कि जिससे अज्ञान का रूप तो मिटे और ज्ञान का रूप सामने आये ।

इच्छा की व्यर्थता – यह जीव यहां चाह बिना भी नहीं रह रहा है । कुछ न कुछ चाह बनाये हुये है । कोई किसी की इच्छा करता है, कोई किसी की इच्छा करता है । अरे, इच्छा उसकी करे, जिसके प्रसाद से अविद्या के रूप का परिहार हो और ज्ञानस्वरूप में हम पहुंच जाएँ । उसकी इच्छा करें कि जिसकी इच्छा करने से हम संतोष पा सकें । जगत् के इन वैभवों में कौन सा पदार्थ इच्छा करने के योग्य है ? जब वह चीज पास है, तब इच्छा का भाव नहीं है।

आनन्द तो तब आता है कि जिस समय में इच्छा करें, उसी समय चीज मिले, किन्तु ऐसा कहीं नहीं होता है । किसी को इच्छा और प्राप्ति के बीच में अन्तर दो दिन का हो जाए, किसी को घन्टे भर का अन्तर हो जाए, किसी को एक सैकिण्ड का ही अन्तर हो, कितना ही अन्तर हो, पर इच्छा और इच्छा की हुई चीज के लाभ में अन्तर अवश्य रहता है । पास हो और फिर उसकी कोई इच्छा करे, यह तो होता नहीं है, फिर बाह्यपदार्थों की इच्छा करना व्यर्थ है ।

समीचीन इच्छा – भैया ! इच्छा उसकी करे, जिसके प्रसाद से फिर इच्छा का संताप ही न रहे, वह है आत्मस्वरूप । आत्मा की रुचि करो । अब तक बहुतों को प्रसन्न करने की चेष्टा की, स्त्री को, पुत्रों को, मित्रों को, समाज को और बहुतों को प्रसन्न करने की चेष्टा की, किन्तु अपने आपको जब प्रसन्न नहीं कर सका तो क्या है ? यह जीव तो कितने ही प्रयत्न करे पर व्यवहार में भी यह दूसरों को प्रसन्न नहीं कर सकता है और फिर अपने आपका प्रसाद अपने आपको न मिले तो अन्य श्रमों से क्या लाभ है ? कोई पुरुष सबको प्रसन्न नहीं कर सकता ।

भगवान् तीर्थंकर के समय में भी, जबकि उनका तीर्थ चल रहा था, उपदेश चल रहे थे, अनेक भव्यजीव सम्यक्त्व का लाभ ले रहे थे, उस काल में भी आधे से अधिक लोग उनके विरोध में थे और कुछ ही लोग उनके समर्थन में थे । कौन किसको प्रसन्न कर सकता है ? सज्जन यदि सज्जनों को प्रसन्न कर सकते हैं तो दुर्जन तो अब भी उनके विरोध का आशय लिये हुए रहा करते हैं । दुर्जन यदि अपनी गप्पों सप्पों से दुर्जन का मन रमा सकता है तो

सज्जनों का चित्त तो नहीं रमा पाया । कौन पुरुष ऐसा है, जो विश्व में सबको प्रसन्न कर सकता है ? किसको प्रसन्न करने की इच्छा कर रहे हो ?

सर्वलोकतोषकर यत्न का अभाव – बच्चों के पढ़ने की पुस्तकों में एक कहानी आती है कि एक पिता पुत्र घोड़े के साथ कहीं अन्य नगर को जा रहे थे । पिता घोड़े पर बैठा हुआ था, पुत्र पैदल चल रहा था । तो एक गाँव के लोग कहते हैं कि यह बाप कितना निर्दयी है कि अपने सुकुमार बच्चे को पैदल चला रहा है और आप घोड़े पर सवार है । गांव निकलने के बाद पिता बोला कि बेटा ! तुम इस घोड़े पर बैठ जावो, लोग मेरा नाम धरते हैं । बेटा बैठ गया ।

अब दूसरे गांव के लोग कहते हैं कि यह हट्टाकट्टा बेटा कितना अविनीत है कि अपने से बड़ी उमर वाले बाप को पैदल चला रहा है और खुद घोड़े पर सवार है । बेटा बोला कि पिताजी अब क्या करें ? मेरा भी लोग नाम धरने लगे हैं । अच्छा अब ऐसा करो कि दोनों ही घोड़े पर बैठ जावो, फिर कोई किसी का नाम न धरेगा । दोनों ही घोड़े पर बैठ गए। अब अगले गांव के लोग कहते हैं कि मालूम होता है कि यह घोड़ा मांगे का है, क्योंकि ये दोनों मोटे ताजे, हट्टे कट्टे इस दुर्बल घोड़े पर बैठे हैं । अब फिर सोचा कि क्या करें ? क्योंकि अब भी लोग नाम धर रहे हैं । अब सोचकर कि पैदल चलें, पैदल चलने लगे । अगले गांव में पहुंचे तो गांव के लोग कहते हैं कि ये दोनों ही मूर्ख हैं । अरे जब पैदल ही चलना था तो इस घोड़े को साथ क्यों लिए जा रहे हैं ।

अब कहते हैं कि चार काम तो कर लिए – अकेला बाप बैठा, अकेला बेटा बैठा, दोनों मिलकर बैठे, दोनों पैदल चलें – ये चार काम तो हो गए । दो के अङ्ग चार होते हैं – जैसे सत्य असत्य दो बातें हैं । तो एक उभय बन गया, एक अनुभय बन गया । अब ५वीं चीज क्या हो ? खैर ! सबको कोई प्रसन्न नहीं कर सकता और बाह्यदृष्टि करके सबको प्रसन्न करने का विकल्प बनाना अपने जीवन के क्षणों को व्यर्थ गवांना है ।

उत्तम चिन्तना के लाभ – भैया ! अपना प्रसाद पाएँ, निर्मलता पाएँ, ऐसा मन बनाएँ कि जगत् के सभी जीव सुखी हों । किसी जीव को मेरे निमित्त से कुछ भी बाधा न हो, सब सुखी हों । कोई यदि मेरे पर शान जता कर सुखी होना चाहता है तो वह यों ही सुखी हो । कोई मुझे बुरा कहकर सुखी होना चाहता है तो वह यों सुखी हो जावो । मोहवश यह जीव बिना ही प्रयोजन दूसरों के दुख की बात सोचा करता है । यह एक महान् अज्ञान का अन्धेरा है ।

अरे ! तेरे सोचने से बाह्य में कुछ हो नहीं जाता । जैसे अहाने में कहते हैं कि कौवे के कोसने से गाय नहीं मर जाती है । जब सोचने से पर में कुछ बात नहीं बनती और यहां हो गया सारा सोचना क्रूर, तो खुद का बुरा अवश्य हो गया । पाप का बंध हुआ, आकुलता का

परिणाम हुआ और दुर्गति भी उसकी अब होगी । अच्छा सोच लिया तो यह अपना सुधार कर सकता है । पुण्य का बंध हुआ, वर्तमान में सुखरूप परिणमन हुआ और आगे इसे सुगति भी मिलेगी ।

कल्याणोन्मुख चिन्तन का आग्रह – जब केवल भाव से, सोचने से ही हमारा भविष्य निर्भर है तो हम क्यों न ऐसा आत्मचिन्तन करें कि जिस चिन्तन से हम कल्याण के मार्ग में रहें और दुखों से दूर रहें । हम मन से सोचें तो सबका भला सोचें, हम इच्छा करें तो सबके कल्याण की इच्छा करें, निज के कल्याण की भी इच्छा करें । ऐसी चाह करें कि जिस चाह के प्रसाद से अज्ञान का रूपक दूर हो और ज्ञानमय अवस्था हमारी प्रकट हो । यह सब अन्तर का काम है, गुप्त काम है, फल भी गुप्त रहता है । हम इस गुप्त वैभव के पाने के लिए बाहर में बनावट और दिखावा करते हैं तो कैसे सिद्ध होगा ?

आत्मचिन्तन – अहा ! मुझे तो अनुभव चाहिए । ज्ञानभावना तो आनन्द का और आनन्द के अनुभव का साथी है । मै देह से भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र हूं । ऐसा हूं ना, पहिले यह निर्णय कर लो । क्या मैं यह देह ही हूं ? इसका निर्णय कर लो । थोड़े से चिंतन के बाद इसका स्पष्ट निर्णय हो जाएगा कि मैं देह से न्यारा हूं, ज्ञानमात्र हूं, मैं अपने आप में पूरा हूं । जैसा प्रभु पूरा है, तैसा ही मैं पूरा हूं । मैं पूर्ण हूं और इस मुझ पूर्ण से जो भी बात बनती है वह भी पूर्ण बनती है । इस मुझ पूर्ण में से यह पूर्ण प्रकट होता है । यह पूर्ण विलीन भी हो जाए तो भी यह पूर्ण का पूर्ण बना रहता है । इस मुझ आत्मा का किसी अन्य से कुछ सम्बन्ध नहीं है, तब फिर मैं मोह की बात को क्यों सोचूँ, क्यों विचारूँ ? अपने ज्ञानस्वरूप की ही निरन्तर भावना को रक्खूँ । मैं तो ज्ञानमात्र हूं, मैं ज्ञानस्वरूप हूं – ऐसा उपयोग बने तो इसे ज्ञानसुधारस का स्वाद आ सकता है । अन्य विषयों के स्वाद में कुछ लाभ नहीं है । एक निजज्ञानसुधारस का स्वाद लो, इसमें ही कल्याण है ।

आत्मतत्त्व की वाणी, पृच्छना व इच्छा से हित प्रेरणा – आत्मा का सहज शुद्ध आनन्द पाने के लिए क्या करना चाहिए ? इस विषय में यह श्लोक कहा गया है । सर्वप्रथम परस्पर के कल्याणमार्ग की प्रेरणा के लिए वचन व व्यवहार आया करते हैं, उस वचन व्यवहार में ऐसी सावधानी रखे कि वह बात बोले, जिस बात से यह जीव अविद्यामयस्वरूप को त्यागकर विद्यामय अवस्था को प्राप्त हो और ऐसी ही बात का उत्तर मांगे, जिस बात से ज्ञान की दिशा मिले । हम ऐसी इच्छा को करें, जिसके प्रसाद से अज्ञानभाव से निवृत्ति और ज्ञानभाव में प्रवृत्ति की प्रेरणा मिले ।

आत्मतत्त्व के स्पर्श की तत्परता का प्रसाद – अब यह बतला रहे हैं कि सर्व प्रयत्नपूर्वक उसी में तत्पर रहें, जिसमें अज्ञानभाव की निवृत्ति हो और ज्ञानभाव की प्रवृत्ति हो। उसी आत्मतत्त्व में लीन हो । निज अन्तस्तत्त्व में लीन होने के उपाय में सर्वप्रथम अपने शरीर के व्यापार को रोकें । बाह्यवचनों को रोकें, अन्तर्जल्प को रोकें, भीतर में जो चाह की तरंग उठती है उसको दूर करें और अपने उपयोग को इस ज्ञानस्वभाव में ही लगावें, ऐसी स्थिति में जाने वाला भी यह ज्ञानी होगा और जानने में आ रहा होगा वह भी ज्ञानी होगा । जहां ज्ञाता और ज्ञान दोनों एक हो जाते हैं वहां इस जीव को स्वानुभव जगता है और उस स्वानुभूति से अविद्या का संताप दूर होता है और ज्ञान का प्रसाद प्रकट होता है ।

ज्ञानभावना का प्रताप – कल्याण के इच्छुक पुरुषों को उस तत्त्व की भावना में लीन होना चाहिए जिस भावना के प्रसाद से अज्ञानावस्था को छोड़कर यह ज्ञानावस्था को प्राप्त होवे । ज्ञान में ज्ञान वह ज्ञान है जो ज्ञान ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान किया करे और ऐसे ज्ञानानन्द की स्थिति ज्ञानमय अवस्था कहलाती है । मैं समस्त परद्रव्यों से भिन्न हूं, केवल ज्ञानानन्द स्वरूप मात्र हूं, भाव मात्र हूं – ऐसी अन्तर में बार बार की गई भावना के प्रसाद से जो एक जाननमात्र परमविश्राम की अवस्था होती है उस ही को विद्यामय अवस्था कहते हैं । इस अवस्था की प्राप्ति का उपाय है अपने आप को ज्ञानमात्र भाते रहना ।

ज्ञानभावना के उपाय – यह ज्ञानभावना उसकी बना करती है जो इस तत्त्व की अन्तर से चाह किया करे । जिनको इस सहज आत्मतत्त्व की चाह होती है वे कभी किसी दूसरे से पूछते हैं तो आत्मतत्त्व की बात को पूछते हैं । आत्मतत्त्व की इस जिज्ञासा और पृच्छना करने वाले पुरुष अन्य समय में भी कुछ बोलते हैं तो इस आत्मतत्त्व की बात बोलते हैं । यों कल्याण के उपाय में बोलने से शुरू होकर और तत्त्व में लीनता तक की बात इस श्लोक में कही गयी है ।

बोल की संभाल का आद्य स्थान – प्रथम ही प्रथम तो इस कल्याणार्थी का कर्तव्य है कि वह कम बोले और ऐसी बात बोले कि जिसके प्रसाद से यह अज्ञानमय आशय को छोड़कर ज्ञानमय अवस्था को प्राप्त हो । ऐसी अटपट बातें बोलने से क्या लाभ है जिससे यह उपयोग और विक्षिप्त रहा करे, यत्र तत्र डोले । व्यर्थ के जो संग हैं, अत्यन्त भिन्न जो परतत्त्व हैं उन परतत्त्वों में रुचि जगे, प्रीति उत्पन्न हो, ऐसे वचनों के सुनने से आत्मा का हित नहीं हैं, इसलिए बात वह बोलें जिसके बोलने से कुछ लाभ तो मिले । अलाभ की बात बोलने से, आत्मा के अहित बात बात बोलने से, अन्य बातें करने से आत्मा का बल हीन हो जाता है और जहां आत्मबल हीन हुआ वहां नाना प्रवृत्तियां बन जाती हैं, उससे फिर यह विडम्बना को प्राप्त होता है । सो ऐसी ही बात बोलें जिससे ज्ञानावस्था मिले ।

वाक्संयम – भैया ! सबसे पहिले बोलने पर कन्ट्रोल कराया गया है । जिसे कल्याणमार्ग में बढ़ना है उसे प्रथम बोलने का संयम रखना चाहिए । जो उस ही तत्त्व की बात बोलने का अभ्यास रखता है वह किसी से पूछे तो उस ही को पूछेगा, उस ही की चाह करेगा तत्पश्चात् वह आत्मतत्त्व में लीन हो जाता है । मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानमात्र हूं, इसमें विधि की भी बात कहना व्यवहार है और निषेध की भी बात कहना व्यवहार है । मैं कषाय रहित हूं यह भी बताना पड़ता है उस तत्त्व के अपरिचितजनों को बोध कराने के लिए । यह मैं जो हूं यह ही केवल बताइये, ऐसा कोई प्रश्न करे तो वहां निषेध की बात नहीं कही जा सकती है । मैं कषाय सहित हूं यह तो बात है ही नहीं किन्तु कषाय रहित हूं, यह भी स्वरूप को छूने वाली बात नहीं है । स्वरूप तो सहज ज्ञायकस्वभाव है, वह जिसके अनुभव में आया हो उसे तो इतने शब्द सुनते ही बोध हो जाएगा । जिसे अनुभव नहीं हुआ है वह ऐसे शब्द सुनकर भी आंखें निकालकर सुनेगा, क्या कहा जा रहा है ?

रुचि के अनुसार दर्शन – इस आत्मा के अनुभव की बात यत्नसाध्य है । अपने अंत:ज्ञानमय पुरुषार्थ के द्वारा साध्य है । उस ही तत्त्व में लीन होना चाहिए जिसकी लीनता के प्रसाद से यह आत्मज्ञान अवस्था को प्राप्त हो । जिसको जिस बात की रुचि होती है वह किसी भी प्रसंग में हो बात उस ही की छेड़ता है । जैसे किसी का इष्ट पुत्र खो जाए तो नगर भर में कितना खोज किया करता है । जगह-जगह पूछता है । इस ही तरह जिसको आत्मतत्त्व की रुचि जगी है और यह निर्णय हुआ है कि वास्तविक आनन्द तो एक ज्ञानमात्र अनुभूति में है, ऐसा वह पुरुष जिसे एक ज्ञानभाव दृष्ट हुआ है वह इस ज्ञानभाव के जानने के लिए ही तो चर्या करता है, पूछता है और उसकी बाट जोहता है । इसे वाद विवाद की मन में नहीं रहती है । मैं किसी को अपने मन की बात समझा कर ही रहूं, अमुक लोग मेरी बात मानें, कही हुई बात गिर न जाय – ये सारे विकल्प अज्ञानमय अवस्था के हैं । इस ज्ञानी पुरुष को तो ज्ञाता दृष्टा रहने की प्रकृति पड़ी हुई है ।

अन्तरात्मत्वदर्शन – ज्ञानी संत सहज भाव से उपदेश कर सकते हैं यदि जान बूझकर याने मैं लोगों को ऐसा सुनाऊँ कि लोग यह समझें कि हां यह बहुत ऊँची बात कह रहा है, ऐसा आशय मन में हो तो वहां सहज यत्न नहीं हो सकता है । वहां तो सूचक बात भी प्रकट नहीं हो पाती है जो सहज ज्ञान का संकेत करे । समयसाररूपी माला के द्वारा निज समयसार परमदेव को पूजिए, पर यह जान जाइये कि यह अभिन्न समयसार की माला एक सहज क्रियारूपी हाथ से बनाई जा सकती है । बनावट अथवा जान बुझक्कड़ी करके यह समयसार की फुलमाला नहीं गूँथी जा सकती है । जब आत्मा में ज्ञानभाव की दृष्टि का परमयोग बनता है तो उस परमयोग के प्रसाद से ही यह समयसार वश में किया जाता है । मेरा प्रभु मेरे वश में हो जाय, इसका

यत्न है ज्ञानमय पुरुषार्थ । वश में हो जाय इसका अर्थ यह है कि मेरी दृष्टि में यह निरन्तर बना रहे । मेरे अंक से यह दूर न हो सके । ऐसे परमयोग के प्रसाद से अपने वश में करने वाले इस समयसार परमदेव को समयसार की फूलमाला से ही पूजा जा सकता है, उपासित किया जा सकता है । यों अपनी बहिरात्मदृष्टि को तो मिटाना चाहिए और अन्तरात्मदृष्टि को प्रकट करना चाहिए ।

भेदविज्ञान का एक प्रकार – भैया ! ज्ञान में, यथार्थ परिचय में अन्तर नहीं होता है । वस्तुस्वरूप के परिचय के विषय में ज्ञानियों ज्ञानियों में अन्तर नहीं होता है । साधु तो पूरा भेदविज्ञान करे और श्रावक उससे आधा भेदविज्ञान करे और अविरत सम्यग्दृष्टि चौथाई भेदविज्ञान करे, ऐसी बात नहीं है । भेदविज्ञान तो जो सम्यग्दृष्टि अविरत के है वही भेदविज्ञान प्रमत्तविरत साधु के है । प्रमत्तविरत साधु के संग में रहने वाले जो शिष्य आदिक हैं उनमें उन्हें पूरा भेदविज्ञान रहता है और यहां सम्यग्दृष्टि अविरत जो कि बाल बच्चों में पड़ा हुआ है पूरा भेदज्ञान उसके भी रहता है । साधु जानते हैं कि यह शरीर भी परिग्रह है, मेरा नहीं है, ये शिष्यजन भी परिग्रह हैं, मेरे नहीं हैं, और यह मन भी परिग्रह है, मेरा नहीं है और शब्द वचन आदिक भी परिग्रह हैं, मेरे नहीं हैं । शिष्यों को उपदेश भी किया जाय तो उपदेश रूप में ये सूत्र वचन भी परिग्रह हैं, मेरे तत्त्व नहीं हैं । ऐसे एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य समस्त विभावों में जो भेदविज्ञान करते हैं ऐसे साधुसंत पुरुष के जैसा परम भेदविज्ञान है वैसा ही परम भेदविज्ञान अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष के भी होता है ।

आत्मवेदियों में चारित्रकृत अन्तर की संभवता – भैया ! अन्तर तो केवल उस ज्ञान में स्थिर होने का है, चारित्र होने का है । स्वरूप सम्बोधन में अकलंकदेव ने चारित्र का लक्षण कहा है कि उत्तरोत्तर होने वाली जो दर्शन और ज्ञान की परिणतियां हैं उन परिणतियों में स्थिर होना, उनका स्थिरता से आलम्बन हो इसका नाम चारित्र है अथवा सुख और दु:ख में मध्यस्थ होना इसका नाम चारित्र है । चारित्र का लक्षण कहीं फलित रूप से कहा है, कहीं परिस्थिति रूप से कहा है । अन्तर चारित्र का होता है, पर सम्यक्त्व और प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग का ज्ञान यह प्रत्येक सम्यग्दृष्टि के होता है । इसमें मनुष्यों की बात तो दूर रहे, जिन पशुवों और पक्षियों को सम्यग्दर्शन होता है उनके भी आत्मप्रयोजक भेदविज्ञान वैसा ही है जैसा कि साधुसंत पुरुषों के होता है । वे मुख से कुछ बोल नहीं सकते हैं पर जैसे हंस की चोंच में दूध और पानी जुदा जुदा हैं—ऐसे ही प्रत्येक ज्ञानियों के उपयोग में आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व जुदा जुदा हैं । उसी तत्त्व की भावनाओं में लगो, जिस भावना के प्रसाद से अज्ञानमय अवस्था छूटती है और ज्ञानमय अवस्था प्रकट होती है ।

श्लोक 54

शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयो: ।
भ्रान्तोऽभ्रान्त: पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते॥५४॥

अज्ञानी और ज्ञानी के उपयोग का रोपण – पहिले श्र्लोक में आत्मतत्त्व की लीनता के लिए बहुत प्रतिग्रह किया गया है । उसको सुनकर जिज्ञासु के मन में यह बात आती है कि इस आत्मा को कहाँ निरखें ? सामने तो शरीर और वचन उपस्थित है । व्यवहार होता है तो वचनों से । और सम्बन्ध होता है तो इस शरीर से । शरीर और वचनों को छोड़कर अन्य कुछ आत्मा का अस्तित्त्व मालूम नहीं होता है । किसकी चर्चा करें ? उस जिज्ञासा में समाधान स्वरूप यह श्र्लोक आया है कि वचन और शरीर के में जिसको भ्रान्ति हो रही है अर्थात् जो वचन और शरीर के यथार्थस्वरूप को नहीं पहिचानते हैं, बहिरात्माजन वचन और शरीर में आत्मा को धरते हैं, आरोपित करते हैं ।

यह मैं हूं, किन्तु वचन और शरीर से भिन्न ज्ञानानन्दमात्र समस्त भारों से रहित आकाशवत् निर्लेप भावस्वरूप निजतत्त्व का जिसे परिचय होता है, शरीर और वचन में जिसे आत्मा मानने का भ्रम नहीं रहा है – ऐसे पुरुष इस शरीर और वचन के स्वरूप को इस आत्मा से पृथक देखते हैं ।

दृष्टात्मा का सहजदर्शन – भैया, जिसने इस आत्मतत्त्व को देख लिया, उसे जरा सी नजर में यह आत्मतत्त्व दिख जाता है । जो आत्मतत्त्व को नहीं देख पाया, वह इन्द्रिय का व्यापार कर करके हैरान हो जाता है । कैसा है यह मेरा आत्मा ? ज्ञानी जानता है कि यह शरीर पुद्गल की रचना है । आहारवर्गणा के सूक्ष्मस्कंधों का पिंड होकर यह शरीर का रूप बनता है तथा यह वचन भी पुद्गल की रचना है । संयोग और वियोग के कारण भाषावर्गणा के स्कंधों में जो वचनरूप अवस्था बनती है, वह वचन है । शरीर और वचन दोनों ही पौद्गलिक है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले हैं । ज्ञानरूपादिक मैं नहीं हूं । वह तो बहुत विलक्षण आश्र्चर्यजनक एक ज्ञानज्योति हैं । शरीर जड़ है । यह कुछ नहीं जानता है, किन्तु यह मैं आत्मा जाननस्वरूप हूं, अमूर्त हूं, समस्त पुद्गलों से अत्यन्त भिन्न हूं – ऐसा जिन्हें भी परिचय है, वे ज्ञानीपुरुष शरीर और वचन को निजआत्मतत्त्व से पृथक निहारते हैं।

ज्ञानस्वभाव में ज्ञानोपयोग की एकरसता – शरीर और वचन में आत्मबुद्धि रखना तो अज्ञान है । यह ज्ञान जब ज्ञानस्वरूप में फिट नहीं बैठता है तो यह डावांडोल रहता है । कैसे फिट बैठे ?

अन्य कोई स्थान इसके फिट नहीं बैठता है । जैसे नमक की डली पानी में डालने पर घुलकर एकरस हो जाती है, उसका पृथक व्यक्तित्व नजर नहीं आता है । इस ही प्रकार यह उपयोग सहजस्वभाव में घुलकर एकरस हो जाता है । वहां यह कोई भी ऐसा भेद नहीं रह पाता कि लो यह मैं जानने वाला हूं और इस मुझने इस गुण को जाना, ऐसा भेदभाव नहीं रहता है, ज्ञान ज्ञान में पहुंचकर एकरस हो जाता है ।

भ्रान्त और अभ्रान्त का भवितव्य – ज्ञान को शरीर और वचन में फंसाना अज्ञानभाव है। बहिरात्मा पुरुष कुसंस्कारों के वश से इन जड़ बाह्यपदार्थों को आत्मा मानता है, किन्तु अन्तरात्मा पुरुष थोड़ी सी भीतर की गुप्तकला के प्रसाद से जिनको कहने के लिए कोई वचन नहीं हैं । थोड़ा झुके निज की ओर निशंक होकर, किसी को साथ न लेकर थोड़ा परमविश्राम किया तो इस आत्मा को अपने आपमें उस ज्ञानस्वरूप का दर्शन होता है । जिसने वचन और शरीर में 'यह मैं हूं' ऐसा भ्रम किया है, वह तो संसार में रुलता है और जिसे भ्रम नहीं है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूं और इसी तरह की अपने आपमें उपासना करता है, वह मुक्ति के निकट है ।

स्फुट हितबोधन – यहां किसी को कुछ दिखाना नहीं है । पहिले इस ही का निर्णय कर लो कि हम अपनी कोई कला, कोई चतुराई दूसरों को दिखा दें तो इससे कुछ अन्तर में लाभ भी है क्या ? किसे दिखाते हो ? यहां तुम्हारा कोई प्रभु बैठा है क्या ? अरे जैसे तुम खुद संसार में भटकने वाले एक प्राणी हो, इसी तरह संसार में भटकने वाले ये दृश्यमान सभी लोग हैं । इनको तुम कुछ दिखाना चाहते हो ? मैं इतना धनी हूं, मैं इस नगर में सर्वप्रथम धनी हूं, ऐसा किसको बताना चाहते हो ? अव्वल तो किसी को बता नहीं सकते हो और मान लो कदाचित् कि बता भी दिया तो इसका फल क्या होगा ?

जीव के जिस समय जिस प्रकार उदय होता है, उसके अनुसार जीवन मरण सुख दु:ख उसके स्वयमेव होता है । जो पुरुष किसी एक पुरुष के द्वारा दूसरों को कुछ कर देगा, इस तरह देखता है, समझता है, वह पुरुष संसार के बंधनों में जकड़ जाता है ।

ज्ञानी का विशद भेदविज्ञान – यहां भेदविज्ञानी पुरुष स्पष्ट आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व में भेदविज्ञान कर रहा है । अज्ञानी ही एकमेक मानें तो मानें, परन्तु ज्ञानी तो सबसे निराला जो एक ज्ञायकस्वरूप है, उसको ही आत्मा समझता है । यह पुरुष शरीर को शरीर समझता है, वचन को वचन समझता है, आत्मा को आत्मा समझता है । किसी एक का दूसरे के साथ मिलान नहीं है । यहां मन की कुछ चर्चा नहीं की जा रही है, इसका कारण यह है कि मन दो प्रकार का है – एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन ।

द्रव्यमन यद्यपि भिन्न वर्गणावों से रचा गया है । जिन वर्गणावों से यह शरीर रचा गया है, उनसे नहीं, किन्तु उनसे भी जो सूक्ष्म हैं – ऐसी भिन्न मनोवर्गणाएँ उनसे रचा गया है, फिर भी द्रव्यमन शरीर का एक अंङ्ग है । द्रव्यमन को शरीर में ही शामिल कर लो । अब रहा भावमन । तो भावमन तो तर्क वितर्क विचार ज्ञान का नाम है । सो भावमन को सुधारने के लिए ही तो यह चर्चा की जा रही है । ज्ञानी पुरुष शरीर और आत्मा से पृथक अपने आत्मतत्त्व को प्रकट निहारता है ।

श्लोक 55

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मन: ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

इन्द्रिय के विषयों में ऐसा कोई भी विषय नहीं है, जो आत्मा के क्षेम, कल्याण, सुख को उत्पन्न करे । फिर भी यह बालक अर्थात् अज्ञानी जीव उन इन्द्रियों के विषयों में ही अज्ञानभावना से रमा करता है । इन्द्रियां पांच होती हैं – स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र । इनका विषय भी एक एक जुदा जुदा है अर्थात् पांच स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द । जगत् में जो कुछ भी उपयोग में आ रहा है, वह इन पांच विषयों में से कोई विषय उपभोग में आ रहा है । निश्चय से तो उन विषयों को आश्रय भेद बनकर अपनी कल्पना से अपनी कल्पनाएं ही भोग में आया करती हैं, किन्तु वे कल्पनाएँ जिन विषयों का निमित्त पाकर उत्पन्न हुई हैं, उन विषयों में उपचार करके कहा जाता है कि यह अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय के विषयों को भोगता है और उन इन्द्रिय के विषयों की कल्पना में जब यह जीव रहता है तो विषयों से आत्मा को कल्पना में एकमेक कर डालता है यह अज्ञानी ।

इसलिए कहा गया है कि यह जीव इन्द्रिय के विषयों को भोगता है, पर उन विषयों में से कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जो आत्मा को क्षेम तो करे । पहिली इन्द्रिय स्पर्शन है। स्पर्शन इन्द्रिय के तीन भोग हैं । जाड़ा गर्मी मिटाना भोग है, पर विकारभावों की अपेक्षा कामवासना यह स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है । मनुष्य यौवन अवस्था में कुछ विवेक नहीं रख पाता है और स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में लीन रहता है ।

फल यह होता है कि जब अवस्था ढल जाती है, तब वृद्धावस्था में इसे यह दिखता है कि हमने समय बेकार में गंवाया, किन्तु आज हाथ कुछ भी नहीं आया है, बल्कि आत्मबल भी घटा, कर्मों का कितना बंध भी हुआ । सब तरह से लुट गया, पर हाथ कुछ नहीं लगा है। लुटने

पिटने के बाद जो बुद्धि अक्ल आया करती है, वह अक्ल यदि लुट पिटने से पहिले आये तो इस जीव का कितना कल्याण हो ? साहित्यों के ग्रन्थों में इस काम की वेदना और विडम्बना के सम्बंध में बहुत बहुत वर्णन है । कामबाण से बिंधा हुआ पुरुष कितना व्याकुल रहता है ? उसे न खाना रुचता है और लम्बी बड़ी श्वास खींचता है और अन्त में बहुत सी विडम्बनावों के कष्ट के पश्चात् मरण को प्राप्त होता है ।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषय में कौन सा विषय इस जीव को क्षेम करने वाला है ? रसना इन्द्रिय के विषय को कहते हैं – खाया, खोया, बह गया । लोग रसना इन्द्रिय के लोभ में आकर कितना तो श्रम करते हैं और कितनी आपत्तियां उठाते हैं । बहुत विडम्बनाओं के पश्चात् एक दो सैकिण्ड का सुख पैदा होता है । जितनी देर जीभ की नोक पर वह विषय आया है, उतनी ही देर तो उसे कुछ मौज सा मिलता है । उस कल्पित मौज में वह आदत को भी खराब करता है और अपने स्वास्थ्य को भी खराब करता है । सात्विक भोजन रहे, पकवान मिठाई आदि गड़बड़ चीजें न रहें तो यह कितने ही कष्टों से बच जाए, बीमारियों से बचे और डॉक्टर का जो विशेष व्यय लादा जाता है, उससे बचे और धर्मधारण में भी इसका चित्त सही बना रहे आदि लाभ हैं । यह तो है लौकिक लाभ ।

परमार्थ लाभ यह है कि निज ब्रह्मस्वरूप की दृष्टि का वह पात्र रहा करता है । थोड़े समय को वह भोजन विषय के सुख है । देखो तो वही एक बेसन है, उसे बूँदी बनाकर खायें, अलग भुजिया बनाकर खायें, अलग नमकीन सेव बनाकर खाएँ, अलग पपड़ियां बनाकर खायें। इस जिह्वा में कैसी कला भरी है कि कैसे-कैसे, जुदा-जुदा स्वादों को यह लेती रहती है ? यह क्या बात है ? सब एक मामला है । भोजन रस अवश्य है । खाया, पेट भरा, खोया, बह गया। शान शौकत में और भोजन की ऐसी शान में जो व्यय किया जाता है, यदि ऐसा जीवन रहे कि रहन सहन तो वैसा हो, जैसा कि न अधिक धनी, न अधिक गरीब, सधर्मी, पड़ौसी लोग किया करते हैं ।

अच्छा तो रहे रहन सहन और पुण्य के उदय में यदि लक्ष्मी आ पड़ती है तो उसे दान के सदुपयोग में लावें । इससे लाभ क्या होगा ? पैसा क्यों जोड़ रहे हैं लोग ? लाभ हो गया, फिर भी तृष्णा क्यों ? कितना ही धन बढ़ जाए, फिर भी निषेध क्यों नहीं करते कि अब इसका संचय न करें ? क्या वजह है ? वजह यह है कि मैं इस दुनिया में शानदार पोजीशन वाला अच्छा कहलाऊँ । इतनी बात के लिए इतना सारा श्रम किया जा रहा है ।

क्यों भैया जी ! उस धन को यों अटपट न खर्चा जाए, किन्तु दान में, उपकार में, संस्था में इन सब बातों को लगाया जाए तो दुनिया में क्या बड़ा न कहलायेगा ? अरे, इसमें तो कीर्ति

बहुत दिनों तक रह सकती है और उसमें कीर्ति तो क्या, लोग पीछे गालियां देंगे कि इतना धनी है, मगर है पूरा मक्खीचूस । उस धन के संचय में कहां कीर्ति मिली, लेकिन तृष्णा में यह जीव सत्पथ को भूल जाता है । हां तो रसना इन्द्रिय के विषय में यह जीव रत होकर पाप बँध भी करता है, अपनी तृष्णा भी बढ़ाता है और स्वास्थ्य का अलाभ भी करता है ।

कौन सा विषय ऐसा है, जिस विषय में इस आत्मा का हित हो ? अथवा मान लो सात्विक ही खाया और उससे ही चित्त है तो खाये खाये में ही कहां तक पूरा पड़ेगा ? पूरा तो तब पड़ेगा, जब द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि तीनों प्रकार के बंधनों से छुटकारा मिले । इस जीवन में साधन तो अच्छे मिल गए कि घर बैठे ही किराया आ रहा है, ब्याज आ रहा है अथवा दुकान भी ठीक चल रही है, बड़ा मौज हो रहा है, सारा खर्चा भी बड़ी शान से चल रहा है । सारे सुख के साधन हैं, फिर भी इनसे क्या इस आत्मा का पूरा पड़ जाएगा ? इससे ही तो आत्मा का पूरा नहीं पड़ जाएगा ।

कब तक इस तरह से दिन कटेंगे ? मानों इस जीवनभर भी इसी तरह से दिन कट गए तो मरण के बाद में क्या यहां का कुछ साथ न जाएगा ? एक धेला भी मरण के समय साथ न जाएगा । साथ भी जाए, पर मरकर चींटी चींटा हो गए तो फिर वह किस काम आएगा ? क्या फिर इस जीव का पूरा पड़ेगा ? इस जीव का पूरा तो ज्ञानभावना से ही पड़ेगा। मैं ज्ञानमात्र हूं । भूल जावो शरीर के बोझ को और इसे खत्म भी करो । अपने उपयोग में मेरा शरीर भी चिपका है, यह भी ख्याल न रहे – ऐसा अन्दर अन्दर विहार करके एक ज्ञानज्योतिमात्र को निरखो । मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूं – इस भावना में वर्तमानकाल में भी आनन्द है और आगे के काल में भी आनन्द है ।

तीसरी इन्द्रिय का विषय गंध है । इत्र सूँघ लिया, सेण्ट लगा लिया, कोट की कालरों पर भी कुछ इत्र लगा लिया, फुवा लेकर कान में लगा लिया, सुगंध आ रही है, गुलदस्ता सामने है, बाग में घूम रहे हैं, मन भी बहला रहे हैं । अरे ऐसे कहां तक पूरा पड़ेगा ? आज गंध अच्छी मिली है, कल गंध न मिली तो यों दु:खी हो गए । अगर गंध में ही खूब रहे तो गंध का सुख तो दूर हो जाता है, फिर गंध का सुख नहीं रहता है । इन विषयों के भोगने की आसक्ति, इन विषयों के भोगने का आनन्द तो तब होता है, जब विषयों का त्याग बहुत दिन तक रहे ।

जो जीव काम के व्यसनी हैं, वे कुछ ही समय बाद अनेक रोगों से ग्रस्त हो जाते हैं। वे फिर कामसेवन के योग्य भी नहीं रहते हैं । जो बहुत काल तक ब्रह्मचर्य रखते हैं अथवा जो बहुत दिनों तक कामसेवन नहीं करते, उनमें कामसेवन की शक्ति रहती है अन्यथा वे बिल्कुल बर्बाद हो जाते हैं । भोजन की भी बात तो देखो कि कुछ समय तक भोजन का त्याग कर दिया

गया तो भोजन रुचेगा, पचेगा, अङ्ग लगेगा और कोई खाता ही रहे तो उसे महीनों तक मूँग की दाल और रोटी बतायी जाएगी । हिसाब तो सब ठीक है, चाहे दो दिन खूब पकवान खा लो और चाहे १० दिन मूँग की दाल पर रहो और चाहे रोज रोज सात्विक भोजन करते जावो मौज से । पैसों का हिसाब ठीक बैठेगा ।

भैया ! भोजन में रुचि तब मिलती है, जब उस भोजन का कुछ त्याग करें । सभी विषयों की यही बात है । उन विषयों के भोगने की सामर्थ्य तब मिलती है, जब उनका कुछ त्याग करें । इत्र बेचने वाले लोग अपनी दुकान पर ८ घण्टे बैठे रहते हैं । हम तो समझते हैं कि उन्हें इत्र में मजा रहता होगा, क्योंकि सुगन्ध का भी आनन्द तब आयेगा, जब गंध विषय का कुछ काल तक त्याग करें । आपकी नाक पर गुलाब का फूल अगर २०, २५ मिनिट धरा रहे तो आप थक जायेंगे । उस गंध को सूंघना फिर आप पसन्द न करेंगे ।

चौथा विषय है आंख का रूप । क्या रूप किसी की पकड़ में आता है ? रूप को डिब्बी में कोई बंद कर सकेगा क्या ? यदि ऐसा कर सको तो जब आप बम्बई जा रहे हों तो अपने बाल-बच्चों और स्त्री के रूप को संग में ले जावो । काहे को आप उनका वियोग सहें ? अरे रूप तो बाहर खड़े खड़े देख लो । इतनी ही बात बनेगी और हाथ लगावो तो रूप न मिलेगा, वहां स्पर्श मिलेगा । जो केवल बाहर से दिखनेमात्र की बात है, उसमें और क्या है ? उस रूप में पुद्गल आदिक के रूप हैं तो वहां कोमलता, कठोरता, रूखापन, स्निग्धता आदि बातें साथ होंगी । और क्या होगा ?

इस मनुष्य गति की पर्याय का यदि रूप है तो होगा – क्या अन्दर मिला ? मात्र हड्डी, पसीना, थूक, नाक । जिस मल को देखने से लोग घृणा करते हैं, थूकते हैं वही मल प्रत्येक शरीर के अन्दर भरा हुआ है और जिस हड्डी से घृणा करते हैं वह हड्डी भी इस शरीर के ही अन्दर है । किसी रूप को देखकर, मुख को देखकर ऐसी कल्पना तो करो कि यह पतला-पतला चमड़ा और मांस यदि न होता तो इसकी शकल कैसी होती ? जैसी मरघट में पड़ी हुई खोपड़ी की शकल । कल्पना करके क्या नहीं देख सकते हैं ? असाररूप जब कल्पना से सर्वस्व मालूम पड़ सकता है तो यहां तो यथार्थ कल्पना करायी जा रही है । क्या वह मरघट की खोपड़ी जैसा चित्रण ज्ञान में न आ सकेगा ? रूप में भी क्या सार है और किस विषय में सार है, कौन सा विषय आत्मा का हित करने वाला है ? कुछ भी तो सोचो ।

अब कर्ण का विषय देखो – शब्द सुन लिया, भला लग गया । अब जहां से जिस पुरुष अथवा स्त्री ने वे शब्द सुने हैं उसके अधीन बनो, सेवक बनो । फिर उन शब्दों की ओर बाट जोहो । इच्छा में, प्रतीक्षा में बाट जोहने में क्लेश ही क्लेश है, आनन्द कुछ नहीं है। कौन सा विषय

ऐसा है जो इस जीव को सुखकारी हो सके । इन्द्रियों को छोड़कर मन की भी बात देखो । मन का भी कोई विषय इस आत्मा का क्षेम कल्याण करने वाला नहीं है । मन के विषय में प्रमुख शब्द है प्रशंसा । जो मनुष्य आपके वश में न होता हो उसे प्रशंसा का विषपान कराकर बेहोश करके अपने वश कर लो । बहुत सरल तरकीब है । किसी से अधिक परेशानियां क्यों उठाते हो ?

वह मेरा विरोधी है, वह मुझसे कषाय रखता है । अरे क्यों तड़फते हो, क्यों परेशान होते हो ? थोड़ी ही तो तरकीब है । स्तवन, प्रशंसा कर बेहोश कर अपने वश बना लो । कहते हैं कि कोई गुड़ से न मरे तो विष खिलावो । जब संसार के ये प्राणी गुड़ से मरने के लिये तैयार बैठे हैं तो इन्हें विष खिलाने की योजना क्यों बनायी जाय ? सारा संसार इस कीर्ति यश, प्रशंसा की तृष्णा में मन के विषय में ग्रस्त है । ये विषय भी अहितकर हैं । अच्छा किसी एक व्यक्ति की एक दो घंटा लगातार प्रशंसा तो करते जावो । देखो वो उबता है या नहीं ? आखिर वह यही कहेगा कि अब प्रशंसा मत करो भाई । अब नहीं सहा जाता है । कितना ही कोई प्रशंसा का भूखा हो, लगातार प्रशंसा सुनही नहीं सकता । इससे यही मालूम होता है कि प्रशंसा भी एक झंझट है । तो कौन सा विषय ऐसा है जो आत्मा में क्षेम उत्पन्न करे ।

यह पूरा जगत् ज्वारियों का अड्डा है । जैसे ज्वारियों की मंडली कहीं पर जुवा खेलती हो और मानो कोई घर से २० रुपये ही लाया हो, उसमें से १५ रुपया हार गया तो अब वह सोचता है कि ५ ही रुपये शेष बचे हैं, उनको लेकर अब घर चला जाऊं, तो संग वाले कहते हैं । बस हो गये, इतना ही दम था । किसी तरह से उसे उठने नहीं देते हैं, और मान लो २० रुपये वह जीत गया तो वह चाहता है कि अब २० रुपये जीत लिए, अब घर चले जायें तो खेलने वाले उसे उठने नहीं देते । वे कहेंगे कि तुम तो बड़े खुदगर्ज हो, आ गये हाथ में पैसे बस चल दिये । जब तक वह पूरा लुट पिट न जाय तब तक उसे उठने नहीं देते हैं । सो यहां पुण्य के फल में जीत, पाप के फल में हार माना जाने वाला यह ज्वारीयों का अड्डा है । यहां सब ये ही ज्वारी खेल रहे हैं ।

भैया ! पुण्य का फल मिला तो मान लेते हैं कि मेरी जीत हो गयी है, कोई पाप की बात आये तो मान लेते हैं कि मेरी हार हो गयी । सो पुण्य पाप, हार जीत की जहां बाजी लग रही है ऐसे इस लोक में यदि कोई प्राणी को किसी समय ज्ञान और वैराग्य की कुछ झलक आये और चाहे कि मैं यहां से हटकर कुछ आत्महित में लगूँ तो ये घर के लोग, पड़ौस के लोग, रिश्तेदार लोग, ये ज्वारी लोग उसे ऐसी बात कहते हैं कि वह वहां से उठ न सकेगा । लुट पिटकर मरे और जाय तो जाय, पर जिन्दा तो न ही जाय । ऐसा यहां का बर्ताव है अथवा दूसरे के बर्ताव को क्या बुरा कहा जाय ? यह खुद ही उन बातों को चाहता है और कुछ ज्ञान

और वैराग्य की बातें करता है तो वह अन्य लोगों से प्रशंसा लूटने के लिए करता है । जब खुद ही इतना चाव भरे है तो दूसरों को क्या दोष देना ? इन विषयों में कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो इस जीव का कल्याण कर सके, किन्तु देखो इतने पर भी यह बालक अर्थात् यह मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानभाव के कारण उन ही विषयों में रति करता है । यों खेदपूर्वक आचार्य यह शिक्षा दे रहे हैं कि इन्द्रिय के विषयों में प्रीति मत करो ।

श्लोक 56

चिरं सुसुप्तास्तमसि मूढात्मान: कुयोनिषु।

अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति॥५६॥

महती विपदा – मोह के प्रेरे प्राणी अनादि से लेकर अब तक खोटी योनियों में ही चिरकाल से भ्रमते हुए अंधकार में सोये हुए हैं और उन अनात्मीय पदार्थों में ये मेरे हैं, इस प्रकार का दृष्टि रूप जागरण कर रहे हैं । अपने से भिन्न पर पदार्थों में ऐसी श्रद्धा होना कि यह मेरा है, इससे बढ़कर जगत में और कोई दूसरी विपदा नहीं है, यह व्यर्थ की विडम्बना है । जिस प्रसंग में अपने हाथ कुछ नहीं आना है, अंत में रीते ही रह जाना है, ऐसी जो थोती कल्पनाएँ हैं इन कल्पनावों में यह सारा जगत परेशान हो रहा है । समस्त परपदार्थों से भिन्न अमूर्त ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्व का अनुभव बने, तो यही है वास्तविक धर्मपालन ।

ज्ञानियों की दया – भैया ! मोहियों की चेष्टा पर ज्ञानी को दया आती है । हो गया कोई करोड़पति तो धन के लिप्सु तो उसको महत्व देंगे जो स्वयं की लालसा बढ़ायेंगे, किन्तु ज्ञानी पुरुष यों देखता है कि देखो तो, है तो यह ज्ञानमात्र एक चैतन्य पदार्थ, सबसे न्यारा, किसी से भी इसका सम्बन्ध नहीं है, किन्तु कैसी दृष्टि बन रही है इन बाह्य जड़ पुद्‌गल ढेरों में कि यह मेरा है इस भ्रम में इसका निरन्तर कर्म बंध हो रहा है – बाह्यपदार्थों में यह मेरा है ऐसी श्रद्धा में, ऐसे संस्कार में निरन्तर पाप बंध हो रहा है । ये मोही जीव इसी पद्धति को लिए हुए हैं और इसी कारण इन्हें खोटी योनियों में भ्रमण करना पड़ रहा है ।

चिरकालीन विडम्बना – इस जीव का आदि निवास निगोद अवस्था है जहां एक सैकेण्ड में २३ बार जन्म और मरण होता है । दस लाक्षणी के अङ्गपूजन में कहते हैं ना, दमरी रूँगन भाग बिकाया । यह जब प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति बना अर्थात् मोटी पत्ती वाली भाजी बना और लोग दमरी की भाजी खरीदते थे, सो उसके रूँगन में जितनी पत्तियां डालीं उनमें अनन्त जीव चले गये । अब तो लोग दमरी का नाम ही नहीं जानते । एक दमरी में कितना ही साग आ जाता था

और आवश्यकता के लायक चीज एक दमरी में मिल जाती थी और बाद में भी थोड़ी भाजी दे देते थे । कहते कि लो यह तुम्हे रूँगन दे दिया । रूँगन कहते हैं कोई चीज खरीद लेने के बाद प्रयोगात्मक एक ऐहसान का आभार प्रदर्शन करना । भाई तुमने हमारा सौदा लिया है, तुम्हें धन्यवाद है, इतना तुम और ले लो । उस रूंगन में जो पत्ती आयी हैं उस पत्ती में अनन्तानंत जीव आ गये, ऐसे हैं साधारण वनस्पति के जीव । एक दमरी के रूंगन में इतने जीव आये । ऐसी ऐसी खोटी योनियों में यह जीव सोया हुआ है, अंधकार में लीन है ।

प्राणी की दयापात्रता – यहां यह मोही प्राणी ऐसा जानता है कि हम बड़े चतुर हैं, हम इतनी दुकान संभालते हैं, ऐसी सुन्दर व्यवस्था बनाते हैं, मुझमें बड़ी चतुराई है, पर ज्ञानी की दृष्टि में वह दया का पात्र है, अपने आपके आनन्दनिधान चैतन्यप्रभु को बरबाद किये जा रहा है । जीव निगोद से निकला तो बन गया पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और प्रत्येकवनस्पतिकाय । निगोद तो साधारण वनस्पतिकाय कहलाता है और जो निगोदरहित हरी है जो व्रतियों के लिए भक्ष्य हैं उन सबको कहते हैं प्रत्येकवनस्पति, और इतना ही नहीं, जो हरी खाने में आ सकती हैं, देखने में आ सकती हैं, अव्रती जिसे खाये वह भी प्रत्येकवनस्पति है । अन्तर इतना है कि अभक्ष्य प्रत्येकवनस्पति तो सप्रतिष्ठत है, साधारण सहित हैं और व्रतियों के भक्षण के योग्य साधारणरहित प्रत्येकवनस्पति है । आजकल लोक में ऐसा प्रसिद्ध है कि आलू सकरकंद आदि चीजें साधारण वनस्पति हैं । अरे साधारण वनस्पति का तो शरीर दिखने में भी नहीं आता, छूने में भी नहीं आता । आलू वगैरह साधारण वनस्पतिसहित प्रत्येकवनस्पति हैं और अन्य पदार्थ तोरई आदिक ये साधारण वनस्पतिरहित प्रत्येक वनस्पति हैं । तो दमरी रूंगन भाग बिकाया । जो चीज भक्ष्य है वह भी छोटी अवस्था में साधारण सहित रहती है और अत्यन्त कोमल भिंडी, तुरई, लौकी हर एक चीज अत्यन्त जब छोटी होती है जरुवा उस समय साधारण सहित होती है ।

कुयोनियों की तुलना – अब बतलावो कहां तो यह मनुष्य जैसा जीव और कहां उन पत्ती और सागों में छिपा हुआ साधारणवनस्पति जीव या केवल साधारणवनस्पति जीव । तुलना करो खोटी योनियों की । यह कथा दूसरे की नहीं है । अपनी है, हम आप भी वही जीव थे । वहां से निकला तो पृथ्वी जल आदिक हुआ, स्थावर ही रहा और कुछ विकास हुआ तो दो इन्द्रिय जीव हो गया । सो दो इन्द्रिय जीवों के भी बड़ी बुरी दशाएँ दिखती हैं, रेंग रहे हैं, पिचल रहे हैं, अब उन पर दया कौन करता है ? तीन इन्द्रिय जीव हुआ, चार इन्द्रिय हुआ, असंज्ञी पंचेन्द्रिय हुआ और सैनी भी हुआ । तो भी जब तक धर्म की वासना नहीं है तब तक तो योनियां ही हैं ।

शिक्षाप्रद प्रश्नोत्तर – एक मुनिराज थे, उन्होनें श्रावक के घर आहार किया, आहार के बाद आंगन में बैठ गए तो कुछ बातें हुईं । तो सेठ की बहू तो होगी ३०, ३५ साल की, वह कहती है

मुनिराज से कि हे महाराज ! तुम इतने सबेरे क्यों आ गये ? अब बतावो चैत बैसाख के दिन, ९ – १० बजे की धूप और पूछती है कि इतने सबेरे क्यों आ गये ? तो मुनि उत्तर देते हैं कि बेटी समय की खबर न थी । ओह सेठ साहब सब बातें सुन रहे थे । और अपने मन में बहुत कुढ़ रहे थे कि सुनने वाले लोग क्या कहेंगे कि कैसी बेवकूफ बहू लाये । इतने में फिर मुनि बोले – बेटी तुम्हारी उमर कितनी है ? लो अब साधुवों को उमर पूछने का क्या मतलब ? तो वह बहू जवाब देती है महाराज मेरी उमर ५ वर्ष की है । फिर पूछा कि तुम्हारे पति की उमर कितनी है ? तो बहू बोली कि पति की उमर ५ महीने की है और ससुर की उमर ? महाराज ससुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए हैं । अच्छा आजकल तुम ताजा खा रही हो या बासी ? बहू बोली महाराज बासा ही खा रहे हैं । सेठ यह सब सुनता हुआ अपने मन में बड़ा दु:खी हो रहा है । सोचता है कि दोनों समय तो कढ़ाही जलती है, ताजी पूड़ियां बनती हैं और यह कह रही है कि बासी खा रहे हैं । और हमें कहती है कि अभी पैदा ही नहीं हुए । साधु महाराज तो चले गए । अब सेठ बहू के ऊपर बिगड़ने लगा । बहू ने कहा कि वहीं मुनि महाराज के पास चलो, सारा निर्णय वहीं हो जायेगा । दोनों वहां पहुंचे । तो क्या निर्णय हुआ सो सुनो ।

उक्त प्रश्नोत्तरों में शिक्षा – बहू ने यह देखा था कि वे मुनि थे छोटी उमर के, सो पूछा कि मुनिपद में तुम इतना जल्दी क्यों आ गए, इतने सबेरे क्यों आ गये ? तो मुनि ने यह जवाब दिया था कि समय की खबर किसी को नहीं है कि कब मरण हो जाय ? सो खबर नहीं थी इस कारण बहुत जल्दी आ गये । ठीक है, पर यह बतावो महाराज ! आपको बहू की उमर पूछने का क्या मतलब था और बहू ने कैसा उल्टा जवाब दिया ? तो वहां यह निष्कर्ष निकला कि बहू को ५ वर्ष से धर्म की श्रद्धा हुई, लौ लगी । सो बहू यह कह रही थी कि हमारी तो असली उमर ५ वर्ष की है । पहिले के ३० वर्ष तो मेरे व्यर्थ में गये । मैं उसे असल की उमर नहीं मानती और पति को ५ माह से धर्म की श्रद्धा हुई, सो उनकी असल की उमर ५ माह की है । अब देखो वहां ससुर साहब को गुस्सा बढ़ रही थी कि हम तो नीचा देख रहे हैं, यहां तो सारा मामला फिट होता जाता है । ससुर ने कहा महाराज ! हमें तो यह बताती है कि अभी पैदा ही नहीं हुए । बाल हमारे सारे सफेद हो गये और बहू कहती है हमें कि अभी पैदा ही नहीं हुए । तो बहू कहती है—महाराज देखो ये अभी तक भी लड़ रहे हैं, बतावो इन्हें पैदा हुआ कौन कहेगा, अभी तक इनकी समझ में नहीं आया । धर्म की वासना अभी तक इनके नहीं जगी तो इन्हें पैदा कैसे कहें ? ठीक है, मगर ताजा बासा का क्या मतलब ? तो बहू ने बताया कि सेठ जी अब कुछ नया धर्म तो नहीं कर रहे हैं, जो पूर्व जन्म में ही करके आये थे, उसके ही पुण्य के प्रताप से आजकल सब आराम भोग रहे हैं ।

वास्तविक जीवन – सो भैया ! जीवन तो वही है जो जीवन धर्म से बसा हुआ हो । धर्मरहित मनुष्य हो कोई, झूठ बोलता हो, परस्त्रीगामी हो, वेश्यागामी हो, निर्दयी हो, अवगुणों से लदा मनुष्य हो तो उसे न वर्तमान में चैन, न कोई भविष्य का ठिकाना, ये ही तो कुयोनियां हैं । धर्म की वासना मिले, सत्संग मिले, उत्तम बात विचारने को हो, सुनने को हो, बोलने को हो, उससे बड़ा और सौभाग्य क्या ? जीवन तो वही है । यह मूढ़ आत्मा बड़ी दुर्लभ मनुष्य अवस्था को भी प्राप्त कर लेता है, किन्तु यहां भी अपनी कला का उपयोग विषयवासना में लगाता है । तो यों मूढ़ प्राणी चिरकाल से इस गहन अंधकार में सो रहा है । परपदार्थों से इस जीव का कुछ लेन देन नहीं है, परपदार्थ अपने में परिणमते हैं, यह जीव अपने में परिणमता है लेकिन परपदार्थों में यह संकल्प हो जाना कि यह मेरा है, यह ही है इस जगत् पर घोर संकट । ऐसी संकटमय अज्ञानग्रस्त जिन्दगी क्या जिन्दगी है ?

पराधीनता – भैया ! अनुभव करके देखलो जितना अलग अपने अपने को अनुभव करेंगे उतनी तो शांति होगी और जितना दूसरों से मिला हुआ हूं ऐसा अनुभव करेंगे बस वही अशांति है । कहते तो हैं सब लोग कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, करि विचार देखेहु मनमाहीं ।' पराधीन दशा में सुख नहीं होता है, किन्तु उस पराधीनता का अर्थ इतना ही लगाकर तुष्ट हो जाते हैं – दूसरों के वश हों अथवा न हों, कोई चीज न मिलती हो, उसकी बाट जोहते हो, किसी परवस्तु को तरसते हों, दूसरे के हाथ में अपने खाने पीने इत्यादि की बातों को यह जीव मानता है कि यह पराधीनता है । और क्यों जी, खूब सम्पदा है, आय भी खूब हो रही है, घर के लोग भी अनुकूल हैं, सारे ठाठ और आराम हैं, वह पराधीन है या नहीं? अरे वह भी पराधीन है और कहो उस प्रथम व्यक्ति से भी ज्यादा पराधीन हो । उसके राग बढ़ रहा है, स्नेह हो रहा है, अपने आपके महत्व को खो रहा है, अपना सर्वस्व समर्पण करके लुट रहा है । प्रतीति में, मोह में, स्नेह में जैसे लोग बोल देते हैं – हमारे तो तुम्हीं सब कुछ हो अर्थात मैं अपने लिए अपना कुछ नहीं रहा । इतना तक अपने आपको समर्पण कर देते हैं और फिर भी यह मोही जीव उस सम्पदा में यह मानता है कि मैं स्वाधीन हूं और दूसरे पराधीन हैं ।

पराधीनता की तुलना – कुछ वर्तमान में भी तुलना कर लीजिए । एक पुरुष सर्विस की आजीविका करता है और एक पुरुष दुकान की आजीविका करता है । इन दोनों में से लोग तो यह कहते हैं कि सर्विस वाला पराधीन है और दुकान वाला स्वाधीन है, पर अनुभव करके देखलो लोकदृष्टि से सुख की निगाह से सर्विस वाला स्वाधीन है अपेक्षाकृत उस दुकानदार के । सर्विस वाले ने तो काम किया, उसे उसमें ममता नहीं है । किया काम फिर पीछे उसका ख्याल नहीं, कर्तव्य निभाया और अपने मौज में हैं, पर यहां तो रात दिन सोचना पड़ता है, उसी के सपने हैं । कुछ घाटा हो जाए, कुछ कमी हो जाए, इसका क्लेश है । न भी कुछ कमी हो जाए

तो भी कल्पनाएँ करके क्लेश बन रहा है । यहां पर यह निर्णय नहीं दे रहे हैं कि कौन स्वाधीन है और कौन पराधीन है ? यहां तो सभी पराधीन हैं । जब इन्द्रिय के विषयों से प्रेम है, विषयसाधनों से मोह है, तब तक यह जीव पराधीन है ।

पराधीनता और परेशानी – जो पराधीन है, वही परेशान है । परेशान का क्या अर्थ है? है तो यह उर्दू शब्द, पर संस्कृत में अर्थ लगा लो इसका – पर ईशान है । ईशान मायने मालिक अर्थात् जो पर को अपना मालिक समझे, उसे परेशान कहते हैं अथवा जिसने पर को अपना स्वामी माना है, उस पुरुष का नाम है परेशान । जहां किसी पर को स्वामी मान ले, वहीं तो सारी हैरानी है । इससे बढ़कर और क्लेश जगत् में कुछ नहीं है कि है तो नहीं मेरा और मान रहे हैं कि मेरा है । सबसे महान् पाप सबसे बड़ा भयङ्कर, सबसे बड़ी विपदा आदि इतने परिणाम को कहेंगे । है तो भिन्न और मान लिया कि मेरा है, यह बात आराम से प्राय: सुन ली जाती है, किन्तु वह कितना दु:खी है, इसे दूसरा क्या जाने । परपदार्थों को कि ये मेरे हैं – ऐसा मानना ही दु:ख का कारण है । जो प्राणी परपदार्थों को अपना मानता है, वह कितना दु:खी है ? कितना पाप में डूब रहा है ? इसकी असली खबर ज्ञानी पुरुष को ही होती है और उनको उस पर बहुत करुणा उत्पन्न होती है ।

परमकरुणा तीर्थंकरप्रकृति का बंध कराने वाली करुणा है । देखो संसार के समस्त जीव स्वरूपदृष्टि से तो प्रभुवत् चैतन्यमात्र शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हैं, किन्तु क्या अवस्था हो रही है भ्रम के कारण से ? चीज कुछ भी नहीं है और इतनी अत्यधिक दुर्दशाएँ हो रही हैं केवल एक मिथ्या कल्पना के कारण ।

न कुछ का डर – चैत बैसाख के महिने में, जबकि गेहूं कटा करते हैं, शाम के समय खेत काटने वाले चैतुओं से खेत के मालिक ने कहा कि जल्दी चलो, अंधरी आ रही है । हमें जितना डर शेर का नहीं है, उससे अधिक डर अंधेरी का है । यह बात शेर ने सुन ली । शेर ने सोचा कि अरे मुझसे भी कोई डरावना प्राणी अंधेरी होता है । सब लोग तो घर चले गये । अब वहां शेर डर रहा था कि कहीं अंधेरी न आ जाए । उसी समय किसी एक कुम्हार का एक गधा गुम हो गया । सो अंधेरी रात में ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह कुम्हार शेर के पास पहुंचा । उसने समझा कि यही हमारा गधा है, सो उसका एक कान पकड़ा, दो चार डण्डे जमाए और बोला कि अरे मैं ढूंढ़ते ढूंढ़ते परेशान हो गया, तू यहां आकर छिपा है । शेर ने समझ लिया कि आ गयी अंधेरी।

अब जैसा चाहा, उस तरह से उसको पकड़ कर वह कुम्हार ले गया । अरे बताओ कि वह अंधेरी क्या है ? उसके हाथ हैं, पैर हैं, क्या हैं ? कुछ भी तो उसमें नहीं है, मगर यह ख्याल बन गया । ऐसा बलवान् शेर भी कुम्हार के चंगुल में फंस गया ।

भ्रम का उन्माद – यों ही जगत् में प्राणीयों का यह ख्याल बन गया है कि यह मेरा है। इस संकल्प का बोझ शिला से भी अधिक है । इस मुझ पर कोई शिला भी पटक दे तो वह भी अच्छा है । इस अमूर्त आत्मा का वह शिला क्या बिगाड़ेगी ? उस शिला से भी भयंकर बोझ इस आत्मा का यह है कि अन्य पदार्थों में यह कल्पना जग गयी है कि यह मेरा है । यह तो अपने विचार और अनुभव से जान लो कि कैसा रंग चढ़ा हुआ है, अपना टूटा फूटा घर है, उसमें ममता लगी है कि यह मेरा है । यहां इतनी मिट्टी निकल गई है, इसे फिर से लीप दें, ठीक कर दें । दूसरे का घर खण्डहर पड़ा हो तो उसके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं । यह जान लिया है । अपने कुटुम्ब के बच्चे को और सदस्यों को निरख कर कैसा मोहीजनों को श्रद्धान् होता है कि ये मेरे सब कुछ हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है । लोग जानेंगे कि यह मेरा सब कुछ है । अरे लोग क्या जानेंगे ? लोग तो असल में केवल निन्दा ही करते हैं ।

यदि कोई कह दे कि आप इन्हें पहिचानते हैं, ये अमुक सेठ जी हैं, इनके चार लड़के हैं— एक मिनिस्टर है, एक कलेक्टर है, एक इन्सपेक्टर है और एक डाक्टर है । उसके कहने का मतलब यह हुआ कि सेठ जी कौरे बुद्धू हैं । इनके लड़के बड़े अच्छे हैं । अर्थ तो यह निकला, पर ममता से वह सेठ मान लेता है कि इसने मेरी बड़ी प्रशंसा की ।

स्वतन्त्रताकी दृष्टि का आदर – भैया ! कोई किसी की प्रशंसा क्या करेगा ? यदि अपने अंत:गुणों को देखो तो किसी में सामर्थ्य नहीं है कि मेरी कोई प्रशंसा कर सके । मैं तो महतो महनीय हूं, उस स्वभाव को कोई पहिचानता नहीं है । पहिचान भी जाए तो उससे कोई बोलता नहीं, उससे कोई व्यवहार करता नहीं । जब मैं दोनों दोषों पर दृष्टि डालता हूं तो मैं कुछ प्रशंसा के योग्य ही नहीं हूं । परपदार्थों में 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि बन जाए तो यह घोर अंधेरा । प्रभु से प्रार्थना करो, अपने अन्त: प्रभु से भी भावना करो कि हे नाथ ! कुछ भी कष्ट आयें, कुछ भी विपदा आयें, विपदा तो प्रिय है मुझे । इन विपदावों से तो कुछ सूझ मिलेगी । राग की नींद में सोये हुए प्राणी को विपदा जगाती है । विपदा आये अच्छा है, किन्तु परपदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार का संकल्प मत जगो । एक यह मोह भाव न रहे तो आत्मा को शांति का पथ मिलेगा ।

श्लोक 57

पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा ।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वं व्यवस्थित:॥५७॥

स्वपरविवेचक दर्शन – अपने आपको समाधिभाव ही परमशरण है-ऐसी प्रतीति रखने वाला अंतस्तत्त्व का रुचिया ज्ञानीसंत अपने आपको प्रतिबोध रहा है और ऐसे ही भव्य जीवों को भी यह प्रतिबोधन कर रहा है कि हे कल्याणार्थी आत्मन् ! तू देखता तो है देह को, चाहे अपने देह को देख रहा हो, चाहे पर के देह को देख रहा हो, पर इस देखने के प्रसंग में तू इस तरह से जान कि यह जो मेरा देह है ऐसा यह वास्तव में मैं नहीं हूं, अर्थात् यह देह मैं नहीं हूं और इसी तरह से जब तू दूसरे देहों को देखता तब भी यह समझ कि ये अन्य देह भी ये अन्य आत्मा नहीं । जैसे इस देह में रहता हुआ भी यह देह मैं नहीं हूं इस देह से मैं न्यारा हूं, इसी तरह से जब तू दूसरे देहों को देख तब भी यह समझ कि इन अन्य देहों में रहते हुए भी ये देह भी अन्य आत्मा नहीं है । ये दूसरे जीव भी इन देहों से न्यारे हैं । ऐसा देखने से तू आत्मतत्त्व में व्यवस्थित हो जायेगा ।

नि:संकट आत्मस्वरूप – भैया ! इस लोक में संकट एक नहीं है । हम आप सबकी बात कही जा रही है । जो संज्ञी जीव होते हैं, जिनके मन का संयोग है उन जीवों की बात कह रहे हैं । हम और आप को संकट एक नहीं है किन्तु जब हम अपने शील को खोकर परवस्तु को अपनाते हैं, उन्हें अपनी मानते हैं बस वहीं इतनी कल्पना में संकटों का जाल बिछ जाता है । क्या है संकट इस जीव को ? मानते जावो संकट और अपने सामने धरते जावो । कोई घर का इष्ट पुरुष मर गया है, लो इस संकट को भी सामने रख लो कुछ धन नष्ट हो गया है, चोर धन चुरा ले गये हैं, इन संकटों को भी सामने रख लो, नुकसान हो गया है, टोटा हो गया है, लोगों ने अपमान कर दिया, गाली दे दिया, इन सारे संकटों को अपने सामने रख लो और अब जरा धीरे से अपने आपके प्रभु से मिलकर यह भी दर्शन करलो कि यह मैं आत्मा आकाश की तरह निर्मल अमूर्त किन्तु ज्ञानानन्दमात्र सबसे न्यारा हूं । यह मैं आत्मा तो उतना ही हूं जितना कि मेरा स्वरूप है । इतना ही मैं हूं और इतना ही रहूंगा । जरा अपने आपके इस प्रभुताई के दर्शन कर लो, वे सारे संकट जो बहुत दिनों में इकट्ठे हो पाये थे वे सब एक ही साथ दूर हो जाया करते हैं ।

सुगम स्वाधीन अपूर्व साहस की आवश्यकता – भैया ! संकट और विश्राम की पद्धति और है ही क्या ? केवल विचारों की ही तो बात है, एक अंतरंग साहस की ही तो बात है । एक यों ही थोड़ी पुरानी घटना सुनते हैं कि बुन्देलखण्ड में किसी राज्य में राजा के यहां एक पहलवान आया । जो सब जगह कुश्तियां खेलता हुआ, जीतता हुआ आया और राजा से बोला कि आपके सुभटों में से यदि कोई पहलवान हो तो हम कुश्ती करने आये हैं । सभी लोग बैठे थे । किसी सुभट को हिम्मत न हुई तो एक दुबला पतला गांव का आदमी खड़ा होकर बोला, महाराज हम इससे लड़ेंगे । सब लोग देखकर आश्चर्य करने लगे कि एक धक्के में जो गिर पड़ेगा ऐसा दुर्बल यह कह रहा

है कि मैं लड़ूँगा । हां महाराज मैं लड़ूँगा, संदेह क्यों करते हो ? अच्छा भाई, नामकरण हो गया, यह कुश्ती खेलेगा । तो वह दुबला पतला बोलता है कि मैं इस तरह न लड़ूँगा । १५ दिन की इसे मोहलत दे दो, नहीं तो यह हार जायेगा तो कहेगा कि हम थके थे सो हार गये । पहिला रोब तो यों जमाया । १५ दिन की मोहलत उसे दे ही गई । तो अब जब समय आया तो कहा ऐसे न लड़ेंगे, पहिले यह अपनी चेत करे, नहीं तो बहना बनायेगा कि हमारी असावधानी में ऐसा हो गया कि हार गये । और भी एक दो बातें ऐसी कहीं कि उसके दिल को आधा बना दिया और फिर थोड़ी ही देर में अपने दाहिने हाथ को पहलवान की आंखो के सामने से निकाल कर उसके पैर पकड़ कर उसे पछाड़ दिया । साहस की ही तो बात है । यहां हम आप दु:खी हो रहे हैं रात दिन, साहस करलें तो फिर यहां कोई दु:खी ही नहीं है ।

संकटहारी नि:संकट साहस – अच्छा, संकट मेटने के लिये क्या साहस कर लें ? सच्ची बात मान लें, कोई लाग लपेट नहीं रखना है, कोई विडम्बना वाली बात नहीं करना है किन्तु जो यथार्थ बात हो उसे मानें । मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूं, केवल जाननस्वरूप हूं, जितने पृथक मुझसे अन्य सब जीव हैं उतने ही पृथक घर में आये हुए ये दो चार जीव हैं । जितने पृथक जगत् के और सब धन वैभव हैं उतना ही पृथक जिसको अपना मान रक्खा है वह सब वैभव है । ऐसी एक हिम्मत बनानी है, इसी से सुख है, आनन्द है । देख जब तू दूसरे देहों को देख ले तब इस तरह से देख कि ये सब देह जुदे हैं और इनमें बसने वाला आत्मा न्यारा है । जैसे कोई मकान को यह कह दे कि यह सेठ जी खड़े हैं तो यह कितनी भद्दी बात है, ऐसे ही इस देह को ही हम यह कह दें कि यह मैं हूं व ये दूसरे आत्मा हैं, यह भी उतनी ही भद्दी बात है । घर में रहने वाला सेठ जैसे घर से जुदा है और कोई घर को निरखकर कहे कि यह सेठ जी खड़े हैं तो कितनी अपमान की बात है ? ऐसे ही इस देह को देखकर यह क्यों कह रहे हो कि यह मैं बैठा हूं, यह मैं खड़ा हूं । जैसे घर में रहने वाला सेठ घर से न्यारा है ऐसे ही देह में रहने वाला यह मैं आत्मा देह से न्यारा हूं ।

देह और आत्मा की परस्पर विलक्षणता – भैया ! इस देह के जितने भी वाचक शब्द हैं उन शब्दों का अर्थ देखो तो उससे ही नि:सारता मालूम होती है । देह उसे कहते हैं जो ढेर रूप बन जाय । शीर्यते इति शरीरं । जो शीर्ण हो, गल जाय उसे शरीर कहते हैं । संचीयते इति काय: । जो संचित किया जाय, खुद यों नहीं है उसे काय कहते हैं । तो समझ लीजिए कि ये सब मायामय है, ये सब शुरू से भी कुछ नहीं है, ये कोई परिपूर्ण स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, किन्तु यह मैं समस्त विश्व का जाननहार ऐसा उत्कृष्ट व्यवस्थापक अनन्त एश्वर्यसम्पन्न आत्मा हूं।

अन्तस्तत्त्व की झलक का आनन्द – इस आत्मा के अन्त:स्वरूप का वर्णन किया जाना बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी कठिन पड़ता है । हम आप सरीखे मंद बुद्धि वाले उनके विषय में क्या कह सकें ? केवल एक दिशा का अवलोकन जरूर किया जा सकता है । चाहे हम वर्णन न कर सकें किन्तु

इसका दर्शन हो जाय तो वर्णन करने वाला और वर्णन न कर सकने वाला यह मैं दोनों को ही स्वाद समान ही आयेगा । कोई भोजन में क्या-क्या बना है, कैसा पकाया है आदि व्यवस्था का वर्णन न कर सके और भोजन करे तो उसे भी वह स्वाद आयेगा जो भोजन का बहुत-बहुत वर्णन करके स्वाद ले रहा है । तो जिसके एक दिशा के अवलोकन में भी अतुल आनन्द भरा है ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व इस देहरूप नहीं, किन्तु देह से जुदा हूं ।

दृष्टान्त में मजहबी नामों में हितशिक्षण – इस आत्मा को कितने ही शब्दों से कहो वे सब आत्मा की महनीयता बताते हैं । जैसे कि धर्म के जितने भी नाम हैं वे सब नाम धर्म की महनीयता बताते हैं । जैसे शैव जो शिव स्वरूप हो उसे शैव कहते हैं । शिव का अर्थ है कल्याण । जो कल्याणस्वरूप को अनुभवे, जाने उसे शैव कहते हैं । इस शब्द ने भी परमशरणभूत निजअंतस्तत्त्व का संकेत किया । वैष्णव जो विष्णु स्वरूप को माने उसे वैष्णव कहते हैं । विष्णु का अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक रहे । व्याप्नोती इत्येवं शील: विष्णु: । खूब छानो, खूब देखो ऐसा कौन सा तत्त्व है जो सब जगह व्याप कर रह सकता है ? वह तत्त्व है ज्ञान । इस समय आपका ज्ञान कहां तक फैला होगा ? यदि बम्बई वगैरह की चिंता हो गई होगी तो बम्बई तक आपका ज्ञान फैल गया और इसी आंगन में आपका चित्त लगा है तो इतने आंगन में ही आपका व औरों का भी ज्ञान फैल गया । कहीं किसी ज्ञान से किसी ज्ञान की टक्कर तो नहीं लग रही है ? यह ज्ञान स्वभावत: असीम है । इस ही ज्ञानस्वरूप का नाम विष्णु है, इसकी जो श्रद्धा करे उसे ही वैष्णव कहते हैं ।

ईसाई – जो ईश की भक्ति करे, ऐसे लोग ईसाई कहलाते हैं या ईसाई मजहब को कहते हैं। ईश नाम समर्थ का है । जो समर्थ हो, प्रभु हो, गुणविकास मे परिपूर्ण हो, उसकी भक्ति करने वाले ईशाई कहलाते हैं । शब्दों में देखो तो एक उपदेश की दिशा मिलती है । यह बात दूसरी है कि अपने शब्दों के मुताबिक कोई आचरण रक्खे अथवा न रक्खे । मुसलमान मायने मुसले ईमान अथार्त् जो अपनी सच्चाई पर कायम रहे, वह है मुसलमान ।

सच्चाई क्या है ? जो वस्तु का स्वरूप है, उस सही स्वरूप पर कायम रहे, विपरीत आशय न बनाये । देखो शब्दों से कितनी शिक्षा मिल रही है ? जैन—जो रागादिक शत्रुओं को जीते, रागद्वेष की स्फूरणा न होने दे, उसे जिन कहते हैं और जिनोपदेश को जो माने उसे जैन कहते हैं । सनातन कहते हैं अनादिअनन्त तत्त्व को, जिसका न कभी आदि है और न अन्त है । ऐसा तत्त्व कौन है ? हम आप सभी का स्वभाव दृष्टि से ही निरखा गया अन्तस्तत्त्व यह सनातन है । इस सनातन तत्त्व की दृष्टि हो तो उसे कहते हैं सनातनी । जैसे मजहबों के शब्दों में एक एक शिक्षा भरी हुई है । यों ही आत्मस्वभाव के वाचक जितने शब्द हैं, उन शब्दों में भी शिक्षा बसी हुई है ।

आत्मा के अर्थ में हितशिक्षण – इस आत्मा का नाम है आत्मा । ''अतति सततं गच्छति जानति इति आत्मा'' । जो निरन्तर गमन करे, उसे आत्मा कहते हैं । गमन का अर्थ जानना है, क्योंकि सबसे तेज गमन करने वाला ज्ञान है । ज्ञान की गति सबसे तेज होती है । जो निरन्तर जाने, उसका नाम आत्मा है । इससे यह जानों कि इस आत्मा का स्वभाव निरन्तर जानते रहने का है, यही इसका शील है । जैसे उपदेश हो कि अपने शील की रक्षा करो । तो काहे की रक्षा करोगे ? इस ज्ञाताद्दष्टापन की रक्षा करो । तुम समस्त पदार्थों के मात्र ज्ञाताद्दष्टा रहो । इस शील में रहने वाले पुरुष को कभी संकट आ ही नहीं सकता । इस परमार्थशील से चिगे और परपदार्थों में यह मैं हूं, यह मेरा है—ऐसी प्रतीति रखे तो वहां संकट अपनी उद्दण्डता के कारण अपने आप ही आएगा ।

ज्ञानयोग – भैया ! ऐसे दुर्लभ मनुष्यभव को पाकर बुद्धिमानी का काम यह होगा कि अपने आपमें गुप्त ही रहकर भीतर में इस धर्म की कमाई कर लो अर्थात् यथार्थ ज्ञान और यथार्थ विश्वास की द्दढ़ता बना लो । जब आखिर कुछ साथ रहना नहीं है, सब कुछ विनष्ट होगा, सब कुछ छोड़ कर जाना होगा, तब हम अपने जीवन में ही अपने ज्ञानबल से उन्हें छूटा हुवा जान लें तो अभी ही सुखी हो जाएँ । अन्यथा ऐसी हालत में समझो कि जैसे लोग अपने बाप को जिन्दा रहने तक तो सुख से नहीं रहने देते और बाप मर जाए तो हर साल २५, ३० रुपए खर्च करते हैं । कहीं गया जी, कहीं और कहीं । १०, २० और ५० रुपये खर्च करके श्राद्ध करते हैं । अरे, अब जितना खर्च कर रहे हो, उसका थोड़ा भी कम करके जिन्दगी में खर्च किया होता या प्रेम से बोला होता तो यह उस श्राद्ध की अपेक्षा भला था । मरे के बाद खबर लेने की अपेक्षा जिन्दगी में कुछ खबर लेना, यह ज्यादा अच्छा था ।

ऐसे ही समझो कि परवश होकर या मरने के कारण या पापोदय के कारण आपका यह धन दौलत परिग्रह छूटता है तो उससे अच्छा यह है कि अपनी राजी खुशी, अपनी प्रसन्नता के साथ स्ववश होकर जीवन में उसे अपने से भिन्न मान लें ।

समागम को भिन्न मान लेने की पहिचान – आपने उसे वास्तव में भिन्न माना, इसकी पहिचान यह है कि योग्य काम देखकर अन्य को दीन दुःखी देखकर या कोई धर्मप्रभावना की बात निरखकर उस धन के खर्च करने में रंच भी संकोच नहीं होना – ऐसी उदारता ही इसकी पहिचान है कि अपने जीते जी जीवन में समस्त अन्य पदार्थों को अपने से न्यारा समझा है । संकट अन्यत्र कहां हैं । जैसे लोग कहते हैं कि गरीब हो या धनी हो, सब अपने अपने घर के बादशाह हैं । साधारण रिक्शा चलाने वाले भी अपनी गद्दी पर बादशाह हैं । जैसे इस सारे लोक में यह बात कहते हैं कि ऐसे ही स्वरूप में यह बात पड़ी हुई है कि प्रत्येक जीव अपने आपमें अपने

आपका बादशाह है, सर्वेसर्वा है । अरे निज सहजस्वभाव को निरखो तो वहां आनन्द ही आनन्द है ।

परिजनों के साथ वास्तविक मित्रता – भैया ! परिवार का संग मिला है तो वास्तविक मित्रता यह होगी कि स्वयं ज्ञानी अधिक विरक्त बनें, ज्ञान और वैराग्य के मार्ग पर चलकर जीवन सफल करें और ऐसे ही मार्ग पर दूसरों को लगावें, तब तो सच्ची मित्रता है अन्यथा विषयकषायों के तो ये जीव प्रकृत्या रुचिया हैं ही, इनका विषयकषायों में चित्त सुगमता से लग जाता है और फिर हमने अनेक विषयकषायों के पोषने की बात कह दी या साधन में जुटा दिया । एक तो वह स्वयं गड्ढे में गिर रहा था, दूसरे अपन ने उसे धक्का लगा दिया तो यह बैर का ही काम किया, मित्रता का काम नहीं किया, परन्तु वाह रे मोह ! बैर के काम को तू मित्रता की बात समझता है और वास्तविक मित्रता की बात को तू गैर बात समझता है ।

प्राकरणिक शान्तिशिक्षण का उपसंहार – कल्याणार्थी पुरुष अपने देह को यों निरखे कि यह मैं नहीं हूं और दूसरे के देह को यह निरखे कि यह पर का आत्मा भी इन देहोंरूप नहीं है। यों निज और पर के यथार्थस्वरूप को देखो तो वह इस आत्मतत्त्व में व्यवस्थित होकर अपने आपमें शांति प्राप्त कर सकता है । शान्ति अन्यत्र कहीं भी तो नहीं है । शान्ति का तो स्वरूप ही यह आत्मा है । इस ओर दृष्टि देने मात्र से ही सारे संकट समाप्त हो जाते हैं ।

श्लोक 58

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा ।
मूढात्मानस्ततस्तेषा वृथा मे ज्ञापनश्रम:॥५८॥

ज्ञानी के कर्तृत्वबुद्धि का अभाव – जिसे वस्तुस्वातंत्र्य की खबर है, प्रत्येक पदार्थ ६ साधारण गुणोंकरि सहित है, इसी कारण प्रत्येक वस्तु स्वयं सत् है, अपने स्वरूप से है, निरन्तर परिणमती रहती है । अपने ही गुणों में प्रदेशों में परिणमती रहती है । ऐसे ही **स्वातन्त्र्य** का जिसे परिज्ञान है – ऐसे ज्ञानी पुरुष के, जीवों के प्रति 'इनका मैं कुछ करूँ' ऐसी कर्तृत्व बुद्धि नहीं हुआ करती है ।

अकर्तृत्व के वचनों में भी अज्ञानी के कर्तृत्व का आशय – व्यवहार में यों बहुत से लोग कह दिया करते हैं कि बहुत बड़ा काम करने के पश्चात् भी कि मैंने कुछ नहीं किया है, मैं किस लायक हूं, मैं क्या कर सकता हूं ? ऐसा बहुत से लोग कहते हैं, पर यथार्थबोध का परिज्ञान न

होने पर उनके ऐसा कहने के भीतर तद्विषयक कर्तृत्वबुद्धि और मिथ्या आशय छिपा हुवा है । इस प्रकार बोलने से शोभा होती है और लोक में यश होता है । ऐसा ही कहना चाहिए कि मैंने कुछ नहीं किया – सब आपकी दया है, आपके प्रसाद से सब हो गया है – ऐसा कहने से यश बढ़ता है और उसके किए हुए काम की प्रशंसा कई गुणी हो जाती है। ऐसा आशय पड़ा हुआ है भीतर में, जिसके कारण सभ्यता के नाते इस प्रकार कह रहे हैं कि मैंने क्या करा, मैं क्या कर सकता हूं, सब आपका प्रसाद है ।

ज्ञानी का व्यवहार विवेक – अब जरा ज्ञानी की बात देखो, इसके मूल में ही यह विश्वास बना हुआ है कि प्रत्येक पदार्थ की सीमा अपने-अपने स्वरूपास्तित्व में है और वह अपने ही स्वरूप में रहता हुआ अपना ही परिणमन कर पाता है । मेरा तो किसी पदार्थ से सम्बन्ध ही कुछ नहीं है ऐसा जिसके स्पष्ट बोध है वह व्यवहार में कर कर की क्रियाबोलकर भी करने वाला नहीं है, ऐसा प्रबुद्धचेता ज्ञानी संत इस प्रसंग में यह विचार रहा है कि इन मूढ़ आत्मावों को, इन पर्यायबुद्धि जीवों को मैं बहुत भी प्रतिपादन करूँ तो भी ये जानते नहीं हैं और न प्रतिपादन करूँ, न बताऊं तो भी ये जानते नहीं हैं – ऐसी जिनकी जड़ बुद्धि है, जो व्यामोह के रंग में बहुत रंगे हुए हैं उनके प्रति ज्ञानी सोचते हैं कि मेरे कुछ बोलने का, प्रतिपादन करने का परिश्रम व्यर्थ है ।

ज्ञानियों का विशुद्ध लक्ष्य – इस बात को सुनते हुए कुछ अर्थ सा नहीं जम रहा होगा कि क्या कहा जा रहा है ? चीज ही ऐसी है और सुनने में कुछ बुरी सी यों लगती है कि जो मुग्ध लोग हैं, व्यामोही हैं, मूढ़ पुरुष हैं क्या उनको ज्ञानियों को समझाना न चाहिए ? यह तो आशंका करने वालों की ओर से ठीक हैं लेकिन ज्ञानी पुरुषों का उपादान भी तो तकिये, उन्होंने क्या विश्व के जीवों को समझाने के लिए कमर कसी है, क्या उन्होंने विश्व के प्राणियों को ज्ञान कराने के प्रोग्राम के लिए ज्ञान पाया है, अथवा धर्म धारण किया है, या वैराग्य किया है उन्होंने तो आत्मसाधना के लिए, आत्मशांति के लिए ये सब साधन बनाये हैं, तपस्या की है, ज्ञानार्जन का उद्योग किया है । अब आसानी से सुगमतया निकट भव्यों को जिनका होनहार अच्छा है, जो मोह रंग में अधिक रंगे नहीं हैं, मूढ़ भी नहीं हैं, बुद्धिमान् हैं, हित चाहने वाले हैं – ऐसे पुरुषों को थोड़े श्रम से थोड़े व्यवहार से लाभ पहुंचता है, तो ज्ञानियों की वृत्ति बन जाती है ।

ज्ञानी के बहिर्मुखता का परिहार – भैया ! क्या यह समाधान कुछ कठिन लग रहा है ? पर इसका समाधान बड़ी जल्दी हो जाता होगा कि जिस ग्राहक के सम्बन्ध में यह जानते हैं कि इससे कोई बात पट ही नहीं सकती और यह अयोग्य है, इससे कुछ पूरा पड़ेगा ही नहीं, तो उससे उपेक्षा कर लेना, यह बात जैसे जल्दी समझ में आ जाती है ऐसे ही समझो कि ज्ञानियों ने दुनिया के जीवों को ज्ञान देने के लिए त्याग नहीं किया है । जैसे कोई यह कह बैठे कि किसी त्यागी से कि साहब दो दफे, तीन दफे कुछ पढ़ावो समझावो अथवा दो तीन बार प्रवचन

का प्रोग्राम रक्खो और त्यागी कहे कि भाई इतना तो नहीं बन सकता, तो सुनने वाले लोग कह दें कि आप तो इसीलिए त्यागी हुए हैं । तो क्या कोई इसीलिए त्यागी हुआ है ? घर छोड़ते समय अथवा वैराग्य के अभ्युदय में जो कुछ भी चिंतन किया हो, क्या उसमें यह भी शामिल था कि लोग ऐसी सभा में जुड़ेंगे और मैं उनको समझाऊंगा और जगह-जगह जाकर प्रतिबोध करूंगा, जबरदस्ती करूंगा । तुम ऐसा समझ लो, तुम यह चीज छोड़ दो, तुम अमुक चीज न खावो, ऐसा व्रत करो, क्या यह पहिले से सोच रक्खा था ? अगर किसी ने सोच रक्खा हो पहिले से तो मेरे ख्याल से उसका त्यागमार्ग के लायक आशय ठीक न था । जिसने भी ज्ञान और तपस्या की साधना में उद्योग किया है उसका तो आशय आत्मशोधन का रहता है ।

ज्ञानी की अन्तर्वृत्ति –देखो भैया ! इतनी बड़ी तो आपत्ति पड़ी है खुद पर, अष्टकर्मों का लदान लदा है, शरीर का जमाव लगा है । खुद तो दुखी हैं, परेशान हैं, मलिन हैं, और कल्पित मौज पर इतरायें तो यह कितनी विडम्बना है ? भले ही पुण्य का उदय कुछ हो और वर्तमान में कुछ इज्जत हो, पूछताछ हो, आराम हो, किन्तु ये कितने देर की बातें हैं ? क्या होगा अंत में किसी ज्ञानी विरक्त पुरुष की लौकिक महिमा देखकर ? अज्ञानी पुरुष भले ही कुछ ईष्या करे कि इनको बड़ा आराम है, बड़े प्रेम से, भक्ति से लोग आदर करते हैं और खूब दिलभर मनमाना सुन्दर भोजन बनाकर खिलाते हैं, इनको तो बड़ी मौज है । पर ज्ञानी आहार कर चुकने के बाद जब अपने स्थान पर बैठता है या कहीं भी खड़ा बैठा हो या वहीं हो मानो, तो वह तो यह सोच रहा है कि कितने दिनों तक चलेगा ऐसा नटखट, कहां तक पूरा पड़ेगा, यह तो रोग है । इस ओर विकल्प रहता है, उपयोग लगता है तो यह तो आपत्ति है और पूरा भी क्या पड़ेगा ? क्या विपरीत उदय न आयेगा, क्या दूसरा जन्म न लेना पड़ेगा ? यहां तो ऐसा विचार ज्ञानी पुरुष कर रहा है और कुछ लोग सोचते हैं कि ये महाराज तो बड़े मजे में है, कितने ही लोग इनको पूछने वाले हैं । लोग हाथ जोड़-जोड़कर बहुत सुन्दर आहार कराते हैं, पर इस ज्ञानी की तो कुछ और ही धुन है । इस वर्तमान मौज में मौज ही नहीं लेता । वह तो जानता है कि यह थोड़े समय का ठाठ है, इसके बाद क्या हाल होगा ? यों ही समझो अज्ञानीजन कहें कि ये त्यागी इसीलिए तो हुए हैं कि हम लोगों का उपकार करें, दो तीन बार कुछ सुनायें, पढ़ायें लिखायें, कुछ आगे की बात जानते हों तो बतायें, हम लोगों के संकट महाराज टालें । महाराज इसीलिए तो त्यागी हुए हैं । इस श्लोक में इन्हीं आशंकाओं का ही तो यह समाधान दिया गया है । आसानी से, थोड़े उपाय से यदि कोई प्रतिबोध को प्राप्त होता है, ज्ञान हासिल कर सकता है तो कर ले । ज्ञानी तो अपनी साधना में जुटा है ।

ज्ञानी का परमें अनाग्रह – ज्ञानी पुरुष यदि धर्मोपदेश भी देता है तो अपने आप को लक्ष्य करके जो कुछ कहे उसका फायदा खुद को मिले इस पद्धति से देता है । ऐसा करते हुए अन्य लोगों

को उनके समागम से लाभ हो यह भली बात है । उन्हें लाभ हो जाय तो हो जाय, पर कमर कसे हों कि हमें तो इतना करना ही चाहिए, हम लोगों को जोड़ें, जगह ठीक करें, लाउडस्पीकर न आया हो तो उठाकर ले आयें, आदमी कम आये हों तो दुकान पर जाकर सबसे प्रेरणा करें कि आवो, हम व्याख्यान करेंगे । हम तुम्हें कुछ समझावेंगे, अच्छी बात बतावेंगे, जिससे संकट टलेंगे । भला सोचो तो सही, इतनी रागवृत्ति जिसके है वह अनेक प्रकार के ऐसे श्रम करे तो उससे उसे कुछ फायदा नहीं है और जनता को भी लाभ नहीं । ज्ञानी तो अपनी साधना किया करता है । जो फायदा उठाना चाहे वह उससे उठा सकता है ।

ज्ञानमय उपेक्षा का प्रभाव – जैसे प्रभु वीतराग सर्वज्ञ की स्थापना प्रतिमा में की गयी है, उनको हम आप कितना-कितना पूजते हैं, फिर भी वह प्रतिमा किसी को कभी कुछ समझाती नहीं, किसी से कभी बोलती नहीं, हम आप ही उनके गुण का स्मरण कर उनके चरणों में शीश झुकाते हैं, उनका पूजन करते हैं, समारोह करते हैं । प्रभु के ज्ञान की परकाष्ठा है, पूर्ण ज्ञान का उदय है । इस कारण इतना वैराग्य है, इतनी उपेक्षा है । जब देखो यह बोलते भी नहीं हैं तो भी उनके पादमूल में आकर जो जनभक्ति करते हैं वे सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं । ये अरहंत देव पूर्ण आप्त हैं । आप्त उसे कहते हैं जो पहुंचा हुआ हो । देव हैं सर्वज्ञ हैं और उन्हीं के छोटे भाई तो ज्ञानी संत पुरुष हैं । जिनेश्वर के लघुनन्दन जिसे पुकारा गया है ऐसे ज्ञानी पुरुष में भी यदि इस उपेक्षा का अंश भी न आया हो तो उससे मोक्षमार्ग का कुछ प्रकाश भी न हो पायेगा । ऐसी स्थिति है उस ज्ञानी पुरुष की । जिसके परम उपेक्षा है, वैराग्य भाव है, ज्ञान की भी झलक क्षण-क्षण में होती रहती है, ऐसे ज्ञानी पुरुष के बारे में ये आचार्यदेव कह रहे हैं कि मूढ़ आत्मावों के प्रति सम्बोधने का, समझाने का व्यायाम व्यर्थ है ।

योग्यव्यवहार पद्धति – यहां यह आशंका अब भी श्वास ले रही है कि आत्मतत्त्व का स्वयं अनुभव करके ज्ञानी होता है, वह जड़बुद्धि को आत्मतत्त्व क्यों न समझेगा ? भैया ! समझाने का निषेध नहीं है, पर हठ करके कमर कसकर समझाने को यहां समझाना कहा गया है । ज्ञानी पुरुष बोल रहे हैं, समझा रहे हैं, वहां सभी तरह के पुरुष हैं, सबका उपकार हो रहा है, पर छांट छांटकर कहीं जड़बुद्धियों को ही बैठाल दो तो ज्ञानी पुरुष योग्य आशय बिना कैसे अपनी ज्ञानावृत्ति का उपयोग कर सकेगा ? देखिये बात थोड़ी थोड़ी न्याय की हर जगह होती है । भगवान सर्वज्ञदेव तीर्थंकर प्रभु के समवशरण में गणधर देव न हो तो उनकी दिव्यध्वनि न खिरे – ऐसा कहीं पढ़ा होगा, वहां तक भी कोई मनचला संदेह करने लगे कि देखो भगवान् को भी बड़ा रागद्वेष है कि लाखों आदमी तो बैठे हैं और एक गणधर नहीं है । गौतम गणधर नहीं आया था तो केवलज्ञान के बाद ६६ दिन तक दिव्यध्वनी नहीं खिरी ।

अरे ! इसमें राग की बात नहीं है । जो बात जिस पद्धति से होनी है, वह उसी पद्धति से होती है । ज्ञानी पुरुष भी हालांकि इतने महान विकास वाला नहीं है, लेकिन नीति की सदृशता बतला रहे हैं । जड़बुद्धि-जड़बुद्धि सब छांट छांटकर बैठा दिये जायें और उनका परिचय भी हो कि ये सब इस तरह के हैं, अब कहां से वह अपना प्रवचन विकास करेगा, अपनी कला करेगा ? खुद ही सोच लो ।

रागविरागभाव के अनुकूल ज्ञानी को वृत्ति का न्याय – यों ही यहां सोच लो कि ज्ञानी पुरुष के कैसे यह श्रम हो सकता है कि मूढ़ जड़बुद्धियों के पास जा जाकर उनसे ही चिपकता कहता फिरे, जरा सुन तो लो इस संसार से परे होने की बात कह रहे हैं । ऐसी वृत्ति ज्ञानियों के होती नहीं हैं, क्योंकि वे दुनिया का उपकार करने की कमर कसने का भाव रखकर ज्ञानी नहीं हुए । उनका लक्ष्य आत्मस्वभाव का है । ऐसे ज्ञानी पुरुष की बात कह रहे हैं कि वह चिंतन कर रहा है कि इस मूढ़ आत्मपुरुष को हम अपनी बात समझाएँ । अपनी बात के मायने हैं आत्मतत्त्व की बात ।

जैसे यह बिना समझे नहीं जानता है, यों ही बहुत समझाया जाने पर भी नहीं जानता है, ऐसे जड़बुद्धि वाले के प्रति उसे समझाने का श्रम व्यर्थ है । इस सम्बन्ध में कितनी ही शंकाएँ बनायी जा सकती हैं । अरे जो बहुत समझदार हैं, उनको समझाने से क्या फायदा ? लेकिन जो जड़ हैं, लठ्ठ बुद्धि वाले हैं, उनको समझाना चाहिए । उपकार तो वहीं पर है । बात तो ठीक है, पर ज्ञानी की गांठ में इतना तीव्र राग हो तो यह सौदा पटे । मूढ़बुद्धि वाले को समझाने में अपना निरन्तर श्रम करे—ऐसा दोनों के बीच का सौदा तब ही तो पटे, जब ज्ञानी के चित्त में भी उतना अधिक राग हो कि 'मान न मान, मैं तेरा मेहमान', किन्तु ज्ञानी तो ज्ञाता व सहज उदासीन रहता है ।

ज्ञानियों की साधना और प्रवृत्ति – ज्ञानी की सब सहज वृत्ति होती हैं । इस कारण कहीं कहीं तो इतना तक भी कहा गया है कि ऐसे जड़बुद्धियों से, ऐसे निपट असंयत जनों से तो सम्भाषण भी न करना चाहिए । इन शब्दों से भी कहीं कहीं साधकों के लिए शिक्षा दी गई है। जैसे यह बात तथ्य की है कि नीच पुरुष यदि उच्च बन सकें तो उन नीचों के सम्पर्क में और व्यवहार में अधिक रहना चाहिए ।

भैया ! यह ठीक है और यदि उच्च भी नीच बन जाए, नीच के संसर्ग और व्यवहार में रहकर तो क्या ऐसी परिस्थिति में भी बड़ों का यह काम है कि उन नीच पुरुषों में घुसे रहें ? यह कल्याण की चाह के स्थल पर की बात कही जा रही है । इसलिए लौकिक भाषा में जैसे कि आज की दुनिया में यह बात फिट न बैठेगी, लेकिन ज्ञानियों की चूंकि सहज वृत्ति होती है, आत्मसाधना का मुख्य लक्ष्य होता है, इसलिए इसी वृत्ति से वे सफल होते हैं और उनके संसर्ग

में जो आया, वह भी फल प्राप्त करता है । इसी तरह से मुमुक्षुओं की ऐसी बुद्धि जगती है कि जड़बुद्धियों में, तीव्र व्यामोहियों में उनका व्यवहार नहीं होता है ।

श्लोक 59

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये॥५९॥

जल्परिहार का संकल्प – इससे पहिले के श्लोक में यह बताया गया था कि ज्ञानी पुरुष व्यामोही आत्माओं के प्रति यह चिंतन कर रहा है कि यह पर्यायमुग्ध मूढ़ प्राणी आत्मतत्त्व को समझा समझाया भी नहीं जान सकता है । जैसे बिना किए समझे अपने ही पर्यायों में मुग्ध रहा करता हैं, आत्मतत्त्व को नहीं जानता, इसी प्रकार व्यामोह का रङ्ग चढ़ा होने से समझाया जाने पर भी यह इस आत्मतत्त्व को नहीं जान सकता हैं । इसका कारण इनके लिए समझाने में समय और श्रम लगाना, इससे लाभ क्या है ? यों जानकर वह उनसे मध्यस्थ रहा करता है । अब इस श्लोक में सभी के प्रति वचनालाप न करने का चिंतन किया जा रहा है ।

प्रतिबोधन का अनवकाश – जो यह (स्वकीय आत्माधिष्ठित देह पिण्ड अथवा मनुष्य) मैं समझाने को चाहता हूं, वह मैं नहीं हूं और जो मैं हूं, वह अन्य के याने जिसे समझाना चाहता हूं, उसके ग्राह्य नहीं है । तो अब बताओ कि यह कौन मैं अन्य जीवों को समझाऊँ ? जो समझाने जैसी पयार्य में उन्मुख है अथवा चेष्टा कर रहा है, वह मैं नहीं हूं । जो मैं वास्तव हूं, वह कुछ नहीं ग्रहण करा सकता, तब यह कौन मैं अन्य को समझाऊँ ? जो परमार्थ मैं हूं, वह निश्चेष्ट विशुद्ध ज्ञानमात्र है और जो लौकिक मैं हूं, वह तो उपचारमात्र का "मैं" है, फिर मैं समझा ही नहीं सकता । अत: समझाने का व्यर्थ परिणाम क्यों करुँ ?

प्रतिबोध्यता का अनवकाश – जिसको मैं समझाने के लिए चाह रहा हूं अर्थात् दृश्यमान यह देह जो मेरी आंखो में दृष्टा हो रहा है, ऐसा यह देह जिसको कि मैं समझाने की चाह करता हूं, वह मैं नहीं हूं । जो मैं हूं वह अन्य को ग्राह्य नहीं, फिर अन्य को क्या समझाऊँ? यहां एक आशंका हो सकती है कि जो आंखों के सामने दिखने वाले देह पिण्ड हैं, जिनको कि मना किया जा रहा है, उसे यह कहते कि यह आत्मा नहीं है, तो बात युक्त होती, पर जब यों कह रहे हैं कि मैं जिस देहपिण्ड को समझाना चाहता हूं, वह मैं नहीं हूं । इसका अर्थ क्या है ? तो यहां यह ज्ञानी उस आत्मतत्त्व को निरखने के समय में अन्य भाव नहीं कर रहा है । इस ही कारण से तो परआत्मा में भी परत्वरूप से उपयोग नहीं दे रहा है, किन्तु जातिरूप से तक रहा है ।

प्रतिबोधन की अशक्यता – मैं आत्मा स्वतन्त्र हूं, मैं किसी पर के द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकता, दूसरे लोग मुझे ग्रहण नहीं कर सकते । मैं किसी को समझाने का यत्न करुं तो वस्तुत: मैं किसी को समझाने का यत्न नहीं कर सकता, क्योंकि वे सब भिन्न पदार्थ हैं । मैं दूसरों को कुछ बताना चाहता हूं कि यह मैं हूं । यह मुझे जान जाए, मुझे समझ जाए तो उन दूसरों को जो कुछ दिख रहा है, वह मैं नहीं हूं और जो मैं हूं, वह दूसरों के ग्रहण में आ नहीं सकता । तब फिर मैं दूसरों के लिए क्या सम्बोधन करुं ? यह समझाने वाला जब व्यवहाररूप से ही सही देखता है, तब समझाने का यत्न करता है ।

किसी को समझाना है, कौन सा तत्त्व बताना है ? जब यह तत्त्व इसके लक्ष्य में रहता है, तब यह तो स्वयं बुझ जाता है, अपने आप में मग्न हो जाता है, पर के प्रति व्यवहार की क्रिया भी समाप्त हो जाती है अथवा यह दूसरा कोई पुरुष जब इस आत्मतत्त्व को समझ बैठे, तब यह भी अपने आपमें मग्न हो जाता है । फिर यह समझने और समझाने का व्यवहार चल कैसे सकता है ।

अज्ञानी का जल्पवाद – अपना यथार्थ तत्त्व जिसको परिज्ञात है, उसे भी परिज्ञात इस तत्त्व के समझाने में कोई विकल्प ही आएगा, निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व प्रतिबोधन का विषयभूत न होगा फिर तो । किन्हीं पुरुषों को समझाने विषयक धर्मचर्चा भी की जा रही है और अपने कर्तृत्व का आशय भी रखा जा रहा हो तो उस दूसरे पुरुष को समझाना कठिन हो ही जाता है। तभी तो बीच बीच में वह व्यामोही कहता जाता है कि क्यों भाई समझा ना ? क्योंकि उसके चित्त में यह बसा हुआ है कि मैं समझाने वाला हूं और इन लोगों को समझा रहा हूं । सों कह बैठता है कि क्यों भाई समझा ना कुछ ? जरा और विशेष अभिमानी हुआ तो यों कह देता है कि तुम्हारे दिमाग में आया कुछ ? अभिमान हुआ तो यों कह देता है कि तुम्हारे दिमाग में भुस भरा है या हमारी बात भी आई है ? उस व्यामोही के चित्त में ऐसा अहंकार है कि मैं समझाऊं तो यह समझता है । मैं समझाने वाला हूं ।

वचनव्यवहार में ज्ञानी की निरहङ्कारता – ज्ञानी पुरुष के यह अहंकार नहीं होता है । वह तो यों जानता है कि मैं किसी को समझा नहीं रहा हूं, किन्तु मेरे चित्त में एक प्रकार का धर्मानुराग जगा है अथवा उस चर्चा के करने में हमारी भी अभिरुचि है । सो इस प्रसंग में मैं अपनी कषाय को शांत कर रहा हूं, अपनी अभिरुचि को प्रकट कर रहा हूं, अपने ही अन्तरङ्ग में अपना ही कार्य कर रहा हूं । मैं समझा क्या सकता हूं और समझाना किसे है ? सभी जीव मेरी ही तरह अथवा प्रभु की तरह हैं, ज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं ।

यहां कौन छोटा और कौन बड़ा है ? कौन किसी दूसरे को क्या कर सकता है ? यह तो है एक आध्यात्मिक बात । लोकव्यवहार में भी जो बड़े घराने के पुरुष होते हैं, वे दूसरे को कुछ कहते समय अथवा दूसरे को वह बात समझ में नहीं आती है तो वह समझाने वाला यों कहता है कि भाई मैं तुम्हें बता नहीं सका । मुझमें अयोग्यता है, असामर्थ्य है कि मैं समझा सकने में समर्थ नहीं हूं । बजाय यह कहने के कि तुम्हारी कुछ समझ में ही नहीं आता, इसके एवज में यही कहते हैं कि मैं सही तौर से बता नहीं सका । आध्यात्मिक पुरुष तो इतनी भी अपने आप में तरंग नहीं लाता है । वह जानता है कि मैं केवल अपने आप में अपनी कषायरूप अपना परिणमन कर रहा हूं । मैं किसे समझाता हूं?

पर के द्वारा अन्य को ज्ञान देने की अशक्यता – भैया, कोई पुरुष किसी दूसरे को ज्ञान नहीं देता है । सभी ज्ञानस्वरूप हैं, सो कुछ निमित्त पाकर अपने आप में बसे हुए ज्ञानतत्त्व को प्रकट कर रहे हैं । यदि कोई ज्ञान बांटने लगे, अपना ज्ञान किसी को देने लगे तो १०, २०, ५० शिष्यों को ज्ञान देने पर तो वह गुरु ज्ञानहीन हो जाएगा । अब तो वह गुरुघण्टाल रह गया । आप लोग जानते हैं कि गुरुघण्टाल किसे कहते हैं ? अब तो यह गाली का शब्द बन गया है । घण्टाल उसे कहते हैं, जो दूसरों को हित में लगने की प्रेरणा दे –

"परान् हिते घण्टयति प्रेंरयति इति घण्टालु: ।"

ऐसा तो एक विवेकी पुरुष ही हो सकता है, किन्तु मोहियों की यहां गोष्ठी है, अज्ञानीजनों का समुदाय है । यहां तो किसी को गुरुघण्टाल कह दिया जाए तो वह गाली मान लेगा । जैसे किसी कंजूस को कोई कहे कि आइए कुबेर साहब ! तो वह अपनी बढ़ाई न समझेगा, तो वह गाली समझ जाएगा । पर कुबेर शब्द क्या गाली है ? अभी किसी से कह दें कि यह तो बड़ा पुङ्गा है, पोंगा है तो ऐसा शब्द सुनकर वह बुरा मान जाएगा, पर आप पूजा में रोज रोज पढ़ जाते हो—

"स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय ।"

पुङ्गवाय का अर्थ श्रेष्ठ है । उसी का बिगड़ा शब्द पुङ्ग है । शुद्ध शब्द है पुङ्गव और पुङ्गव से बिगड़कर पोंगा या पुङ्गा, पङ्गा रह गया । छोटे पुरुषों को बड़ा शब्द यदि बोल दो तो वह गाली समझ लेता है । तो यहां पर घण्टाल भी गाली में सामिल हो गया । तो मतलब यह है कि यदि कोई अपना ज्ञान किसी को दे दे तो वह दिया हुआ ज्ञान क्या उसके पास रहा ? किन्तु ऐसा नहीं है ।

ज्ञान का अद्भुत भण्डार – ज्ञान देने वाले पुरुष जैसे जैसे ज्ञान दान देते रहते हैं, वैसे ही वैसे उनका ज्ञान पुष्ट होता रहता है, ताजा होता रहता है । धन वैभव का भण्डार तो ऐसा है कि जैसे जैसे खर्च करो, वैसे ही वैसे कम होता है, पर ज्ञान का भण्डार ऐसा है कि ज्यों ज्यों खर्च होता जाता है, त्यों त्यों बढ़ता जाता है ।

अनुभूति की वचनगोचरता – यह ज्ञानी पुरुष जानता है कि मैं किसी को न समझाता हूं, न ज्ञान देता हूं । मैं तो अपनी ही अभिरुचिवश अपनी सभी कषायों के अनुराग में चेष्टा करता हूं । मैं किसी को इस अन्तस्तत्त्व को समझाने बैठूँ भी तो बड़ी दिक्कत की बात है । जिस रूप में, जिस शब्द से, जिस विकल्प से, जिस ढंङ्ग से मैं इस अन्तस्तत्त्व को समझने चलुं, वह ढंङ्ग, वह रूप, वह विकल्प यह अन्तस्तत्त्व नहीं है और जो यह अन्तस्तत्त्व है, वह दूसरों के द्वारा इस समझाने के प्रसंग में ग्राह्य नहीं है । इस रहस्य की बात से तो दूर रहो । आपके अनुभव में रोज रोज जो बात आती है, आप उसे ही यथार्थ नहीं समझा सकते हैं ।
अच्छा आप बताओ कि अरहर की दाल में कैसा स्वाद होता है ? आप शब्दों द्वारा कुछ बता नहीं सकते हैं कि कैसा स्वाद होता है ? अरे जिसे अरहर का स्वाद बताना है, उसे अरहर की दाल चावल बनाकर खिला दो, उसे अरहर की दाल का स्वाद मालूम हो जाएगा । तो किसी भी अनुभव को मैं शब्दों द्वारा किसी के सामने रख दूं, यह शब्दों में सामर्थ्य नहीं है । मैं कैसे इस परमार्थ अन्तस्तत्त्व को समझाऊँ ? यह तो प्रयोगसाध्य बात है ।

हिंसा का परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रता का निर्माण – भैया, अपने आप को ऐसा पात्र बना लो, अपनी ऐसी योग्यता बना लो कि पर की ओर से आंखें मींचे, विश्राम लें और निजसहजप्रकाश सामने आ जाए, अनुभव में आ जाए—ऐसी भावना बनाने के लिए बहुत से प्रयोग करने पड़ेंगे । प्रथम तो यह है कि गृहस्थावस्था है तो यहां न्यायनीति से रहना, पांचो पापों का त्याग करते हुए अपना सद्व्यवहार रखना, उत्तम आचरण रखना, पांचो पापरहित व्यवहार रखना आवश्यक है । जो इन पापों में आसक्त है, किसी की जान को जान भी नहीं समझता है, किसी का भी दिल दु:ख जाए, प्राण भी पीड़ित हो जाय, पर अपनी स्वार्थसिद्धि हो, अपनी बात बने- ऐसा जिसके अन्दर रौद्र आशय है, वह कैसे पात्र हो सकता है कि अपने अन्तस्तत्त्व की बात समझ सके । इस कारण अपना दयामय व्यवहार रखना चाहिए ।

मृषावाद का परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रता का निर्माण – जिसने झूठ बोलने की प्रवृत्ति बना ली हो, वह इस अन्तस्तत्त्व के दिल का पात्र नहीं हो सकता है । झूठ बोलने की आदत तो व्यर्थ की है । झूठ बोलने वाला कुछ लाभ नहीं प्राप्त कर लेता है । जिसे यह लाभ समझता है, वह

तो सच्चाई से भी प्राप्त हो जाता है और फिर कुछ भी काम भी न हो, स्वार्थ भी न हो तो भी झूठ बोलने में बहुत से लोगों को बहुत आनन्द आया करता है । झूठी गवाही देना, सच को झूठ जाहिर कर देना, और और भी बहुत सी बातें करके आनन्द मनाना, ये तो अपने आपकी बर्बादी के ही कारण हैं । इस कारण मिथ्यावाद का परिहार करके एक अपने आपके शाश्वत प्रकाशमान् प्रभु के दर्शन तो कर लो ।

चोरी का परिहार करके यथार्थज्ञानपात्रता का निर्माण – जिसे चोरी की प्रकृति पड़ गयी है वह अपने आपके अन्तस्तत्त्व के दर्शन का पात्र नहीं होता । पर के माल को छिपा लेना यह तो चोरी है ही, पर जो न्यायविरुद्ध बात है ऐसी कुछ भी घटना को घटा लेना, जिसमें छुपकर चलना पड़े वह सब चोरी है । जो बात छुपकर करना पड़े, कोई जान न जाय ऐसा भाव रखकर किया जाय ये सब चोरी है । आपको विदित होगा अचौर्य व्रत भावना में एक भावना भैक्ष्य शुद्धि है । यह साधुओं की बात है कि विधिपूर्वक गृहभिक्षा लेना । चोरी का भैक्ष्यशुद्धि से क्या सम्बन्ध है ? सम्बन्ध देख लो । भोजन कर रहे हैं उस ही बीच में कोई थोड़ा सा बाल आ गया और वह ऐसी कला कर दे कि किसी जगह सरका कर छुपा दे तो वह भी चोरी है । भाई छिपाकर क्यों भोजन कर रहे हो ? उस छिपकर भोजन करने में भी चोरी का दोष है । कोई बड़ा पुरुष ताजे भुने हुए चने मोल लेकर जेब में डालकर चबाता चला जाय और उसी समय कोई दूसरा व्यक्ति उसके पास पहुंच जाय तो वह उन चनों को इस तरह से जेब में छिपाकर रखता है कि वह समझ न सके । अरे भाई तुम चने खा रहे हो, तुमने उन चनों को खरीदा है तो उसमें क्या बात हो गई, क्यों उन्हें छिपाते हो ? ऐसा छिपाने का परिणाम भी चोरी में शामिल है । चोरी के आशय में अन्तस्तत्त्व का दर्शन नहीं होता, अत: इस मिथ्याशय को छोड़ो ।

कुशील तृष्णादिका परिहार करके यथार्थ ज्ञानपात्रता का निर्माण – यों ही जान लीजिए कि जैसे चोरी की प्रकृति वाले को आत्मलाभ नहीं होता, इसी तरह कुशील की प्रकृति वाले को, तृष्णालु पुरुष को इस अन्तस्तत्त्व के दर्शन नहीं हो पाते हैं । न्याय नीति का व्यवहार हो, सदाचार हो, वस्तुस्वरूप का ज्ञान हो तो इन सर्वसंगतियों से इस अन्तस्तत्त्व के दर्शन हो जाते हैं । जिसका आश्रय करने से संसार के समस्त संकट टल जाते हैं ।

श्लोक 60

बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।
तुष्यत्यन्त: प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुक:॥६०॥

मूढात्मा की मुग्धप्रवृत्ति अप्रतिबोध्यता का कारण – इससे पहिले श्लोक में यह बताया गया था और उससे सम्बन्धित पहिले श्लोक से यह बताते आ रहे थे कि इन अज्ञानी पुरुषों को, मूढ़ आत्मावों को न समझाये जाने पर भी ये अन्तस्तत्त्व को नहीं जानते और समझाये जाने पर भी अन्त: स्वरूप को नहीं जानते । जो आत्मा है वह समझने और समझाने वाले के उस प्रसंग में ग्रहण में नहीं आता आदि कारणों से कुछ भी समझाना व्यर्थ है, श्रम करना व्यर्थ है। मानो उस ही की पुष्टि में अब यहां यह कह रहे हैं कि मूढ़ आत्मावों की प्रकृति कैसी हुआ करती है जिससे समझाया जाने पर भी व्यामोही पुरुष का आत्मतत्त्व की ओर झुकाव नहीं होता, संतोष नहीं होता ।

मूढात्मा के कल्पित संतोष का स्थान – अंतरङ्गज्योति जिसकी ढक गयी है, अन्तर में ज्ञाननेत्र जिसका बंद हो गया है, विवेक नहीं रहा है ऐसा पर्यायव्यामोही जीव बाहरी-बाहरी बातों में संतुष्ट होता है । विषयों के साधनों की बात हो, उनके उपायों की चर्चा हो तो इसे उस बाह्य बात में ही संतोष का अवगाह हो जाता है, फिर अंतरंग चर्चा में, अंतस्तत्त्व की कहानी में इसको कैसे संतोष होगा ? किन्तु जो प्रबुद्ध आत्मा है, जिसका यथार्थ ज्ञान जागृत है स्व और पर के स्वरूप को जो यथार्थ नजर में लिए रहता है उसका झुकाव बाहरी पदार्थों से अलग हो जाता है । इस कारण वह पुरुष अपने अन्त: स्वरूप में संतोष करता है ।

अज्ञानी का संतोष और समर्थन – देखो भैया ! धर्म की चर्चा के प्रसंग में जब कोई उनके मन की बात आ जाय, अज्ञानी के मन की नाना बातें आ जायें तो वह उसका समर्थन करता है । हां यह है ठीक । अब शास्त्र की बात, धर्म की बात, ऊँची बात, अंत:स्वरूप की कुछ चर्चा चले, उस ही का जो सहजस्वरुप है उस बाबत कुछ कथन करने के लिए प्रोग्राम चलें, तो उसे वहां संतोष नहीं होता है । यहां कुछ कहा ही नहीं गया है ऐसा उसे विदित होता है । वह अज्ञानी सारभूत अंतस्तत्त्व का ग्रहण नहीं कर सकता । उसकी बाह्य पदार्थों में बुद्धि मोहित हो गयी है ।

यथापद उपदेश – ज्ञानी पुरुष, व्यवहार कुशल परोपकार निरत साधुसंत यथापदवी लोगों को उपदेश करता है तभी धर्मधारण के प्रसंग में अनेक विधियां हो गयी हैं । शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान करना ये भी तो धर्मपालन की विधि है, अथवा तपस्या करना, उपवास आदिक करना ये सब भी तो धर्मपालन में शामिल है ना । पूजा करना, खूब मनोहारी द्रव्य को चढ़ाना, समारोह करना, जलविहार रथयात्रा करना और जैसे आजकल महावीरजी की यात्रा बहुत प्रचलित है । इस महावीरजी की वजह से भी अनेक लोग कुछ मार्ग को पकड़े हुए हैं । यह भी अच्छा है यथापद योग्य पुरुषों के लिए । धर्मपालन की यहां विभिन्नता होती है, उसका कारण यह है कि कोई अंतस्तत्त्व का रुचिया होता है, कोई बाहरी बातों में ही संतोष कर लेता है ।

यथापद उपदेश पर एक दृष्टान्त – कहीं कथानक आई है कि एक बार प्रबुद्ध आचार्य में और एक बड़े शब्दशास्त्र के धुरन्धर विद्वान में किसी बात पर बहस हो गयी । उन दोनों में धार्मिक चर्चा पर कुछ विसम्वाद हो गया तो उन दोनों ने यह निर्णय किया कि चलो किसी तीसरे पुरुष से अपनी-अपनी बात कहें, वह जो निर्णय दे उसको मान लें । जो कोई हार जाय वह जीतने वाले की बात स्वीकार कर ले, धर्म मान ले । सो अब वे चले दोनों किसी तीसरे को सुनाने के लिए । तो मानो एक मिल गया गड़रिया । वह शास्त्रज्ञ विद्वान तो संस्कृत की कड़ी झाड़ने लगा और यह साधु बकरी और उनकी सेवा के सम्बन्ध में कुछ विधियां बताने लगा । कैसे इनका पालन हो, कैसे इनका रक्षण हो । अब तो गड़रिया बोला कि साधु महाराज जो कहते हैं वह ठीक कहते हैं । अब वह शास्त्रज्ञ बड़ा परेशान हुआ । उसने सोचा कि मैंने तो ऐसी अच्छी कला से इसे ज्ञान बताया, फिर भी यह समर्थन नहीं देता है । फिर चले किसी दूसरे के पास मानो ग्वाले के पास, तो वहां भी वह शास्त्रज्ञ विद्वान संस्कृत की लड़ी झाड़ने लगा और यह साधु पशुपालन गौसेवा के विषय में सब बातें बताने लगा । तो उसने कहा कि जो ये साधु जी कहते हैं सो ठीक कहते हैं । तो जिसको सुनना है उसकी तो बात देखो कि वह किस योग्य है ?

कोमल चिकित्सा – जो बच्चा दवाई खाना ही नहीं चाहता उसे कोई कड़ुवा चूर्ण खिलाये तो वह न खायेगा । उसे तो मां बतासे में रखकर खिलाती हैं और वह खा लेता है । यों ही यथापद धर्म की बातें हैं । पहिले यह तो बन जाये कि कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म, कुसंगति में नहीं पहुंचना है । यह अज्ञानी तो बाह्य पदार्थों में संतुष्ट रहा करता है । इसे तो बाह्य पदार्थ चाहियें । उनमें ही उसे संतोष होता है, वही इसमें टेव पड़ी हुई है, उन्हीं में यह तोष किया करता है, इसे अपने आपकी सुध ही नहीं रही । कैसे संतोष करेगा ? बाहर में ही अपनी सुध ही नहीं रही । कैसे संतोष करेगा ? बाहर में ही अपनी दृष्टि रखेगा तो अब क्या करना ? कम से कम इतनी भी बात हो जाय कि उस ही बाह्य संतोष को आदत के प्रसंग में ऐसी बुद्धि आ जाय कि पूजा

करे, यात्रा करे, तीर्थयात्रा करे, दान दे, विधान करे और उनके लगाव में, प्रसंग में उसे यह बात बैठ जाय कि इससे उन्नति है, वृद्धि है, सांसारिक वैभव भी इससे मिलता है, चलो उसका यह पहिला मोड़ है अन्यथा कितने ही पुरुष तो इतनी विपरीत बुद्धि वाले हैं कि धर्म का ध भी नहीं बोल सकते । रात दिन शौक, विषयसाधन यही धुन रहती है ।

निजदर्शन में अन्तस्तोष – यदि ठीक होगा उदय सो ठीक हो जायेगा, उचित मार्ग मिलेगा, पर जब तक पर्याय का मोह रहता है अंतस्तत्त्व का परिचय नहीं हो पाता है तब तक । यह जीव बाह्यबातों में संतोष करता है । और जब अपने आनन्द का धाम इसे दिख जाय तब अंतरंग में संतोष करने लगेगा । कोई बच्चा किसी दूसरे बच्चे के हाथ में खिलौना देखकर रोने लगता है, मां उसे कुछ चांटे मारती है । उसके दु:ख को दूर करने का यह उपाय तो सही नहीं बैठ पाता । अरे दु:ख तो उसे खिलौने न मिलने का है, वह चाटों से न मिटेगा । हालांकि यह बात ठीक है कि वह दूसरे का खिलौना है, वह मिल कैसे सकता है ? उसकी चाह करना व्यर्थ है, उसके लिए क्यों रोता है ? यह बात यद्यपि ठीक है, किन्तु यह रोना मिटेगा भी तो इसी तरह कि उसका खिलौना लाकर उसे दे दो । वह अपने खिलौने में राजी हो जाएगा और उसका रोना मिट जाएगा । ऐसे ही अज्ञानी प्राणी इन विषयसाधनोंरूप बाहरी खिलौनों को निरखकर इनके लिए ही मरते हैं । इनका यह रोना कैसे मिटे ? बाहरी पदार्थों में निग्रह अथवा अनुग्रह करके उनका संचय अथवा विनाश करके यह रोना न मिटेगा । जीव में तो स्वभाव ही पड़ा है कि यह कुछ जाने । इस जीव में किसी न किसी ओर रमने का स्वभाव पड़ा हुआ है । इसका जो स्वाधीन सहज शुद्ध खिलौना है, अभिन्न चित्स्वभाव है, सहजस्वरूप है । इसी का दर्शन हो जाए तो इन बाहरी खिलौनों का रोना मिट सकेगा ।

विनिश्चय की अनुसारिणी वृत्ति – जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक इसे अपने सहजस्वरूप का दर्शन हो ही नहीं सकता । जो तीव्र मोही पुरुष है, उसे समझाये जाने पर भी उसमें अन्तर नहीं आता है और यहां समझाने वाले ने विकल्प मचाकर अपने आपके आनन्दस्वरूप से चिगकर अपना विनाश किया । यह मूढ़ आत्मा बाह्य पदार्थों में ही संतुष्ट होता है कितना ही समझाये जाने पर भी इसे अपने अन्तरङ्ग में संतोष नहीं होता और ज्ञानी पुरुष को कितना ही बहकाया जाने पर भी, भुलावा देने पर भी, कुछ असर देने पर भी इसे बाह्य में संतोष नहीं होता । वह अपने अन्तरङ्ग में ही संतुष्ट रहता है ।

विनिश्चय की अनुसारिणी वृत्ति पर एक दृष्टान्त – भला सामने पड़ी हुई रस्सी में यह भ्रम हो जाए कि यह सांप है, तो समझाने से वह मान नहीं सकता है कि यह सांप नहीं है, यह रस्सी

है । हां उसे ही कुछ साहस जगे, कुछ बुद्धि चले और धीरे-धीरे परीक्षा करे तो उन परीक्षा की चेष्टावों से वह जान जाएगा कि यह सांप नहीं है, पर कोरे वचनों के कहने मात्र से किसी के मन में बात नहीं बैठती है । उसी पुरुष का अपनी ही हिम्मत के कारण जब वह निकट जाए तो भ्रम समाप्त हो जाता है और स्पष्ट जान ले हाथ से उठाकर भी समझ ले कि यह तो रस्सी है, सांप नहीं है । अबउसे कोई कितना ही बहकाए कि अरे यह तो सांप है तो क्या वह सांप समझ लेगा, क्या कुछ गलत मान लेगा ?

विनिश्चय के अनुसार संतोष का आश्रय – ऐसे ही जिन अज्ञानी पुरुषों ने अभी तक अपने सहजस्वरूप को नहीं पहिचाना, उन्हें तो बाहरी पदार्थों में ही संतोष होगा, समझाये जाने पर भी वे सही बात मान न लेंगे और जिसे अपने आपके स्वरूप का अनुभव हुआ है और यह जाना है कि यह अन्तस्तत्त्व अनादि अनन्त अहेतुक है ऐसा अपने स्वरूप का परिचय हो जाय और उस ही स्वरूपदृष्टि के कारण अनुभव हो जाय, अब उसे कोई कितना ही बहकावे तो क्या विपरीत धारणा में आ जायेगा ? वह तो अंतरंग में ही शांत हुआ करता है । जैसे पुराणों में सुना ही होगा अंतिम अनुबद्धकेवली श्री जम्बूस्वामी हो गए हैं, उनको गृहस्थावस्था में सभी लोगों ने दबाकर इस बात पर राजी किया कि वह शादी कर लें, फिर एक दिन बाद जो सोचे सो करें । समझाने वालों को यह विश्वास हुआ था कि जहां **स्त्री** घर आयी, स्त्री का परिचय हुआ यह स्वयं ही फंसकर रह जायेगा । शादी हुई, रात्रिभर उन सेठानियों ने ऐसी कहानी सुनायी कि जिससे यह शिक्षा मिले जम्बू स्वामी को कि वर्तमान में जो सुख मिला है उसको छोड़कर, घर का आराम तजकर और एक कल्पित बहुत आगे भविष्यकाल के सुख की चाह कर रहे हैं, पर उनके उत्तर में जम्बूस्वामी भी अपनी उचित कहानी कहें । रात्रि व्यतीत हुई और जम्बूस्वामी अपने कल्याण के लिए आगे का रास्ता नापने लगे । जम्बूस्वामी विरक्त हो गये । आत्मासाधना में प्रगतिशील को यह उचित ही है ।

प्रबुद्ध का अन्त:सन्तोष – प्रबुद्ध आत्मा अंतरंग में ही संतुष्ट होते हैं किन्तु मूढ़ आत्मा बाह्य में ही संतुष्ट होते हैं । ऐसी घटनाएँ होने पर अज्ञानी क्या सोच रहे होंगे कि जम्बूस्वामी का कुछ दिमाग फेल तो नहीं हो गया था । कल ही शादी हुई लो आज ही चल दिया । इसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, इसे कुछ दया भी नहीं आई । अनेक बातें कही जा सकती हैं जो सुनने में बहुत युक्तियुक्त भी मालूम होती हैं । क्या यह धर्म नहीं है अपने घर के लोगों को सुखी रखना, उन्हें कोई विपत्ति न आने देना, यह बात सोची जा सकती है, परन्तु यहां तो वही हो रहा है जैसा कि निर्णय में होना चाहिए । जिसकी इस अंतरंग चैतन्यस्वभाव में रुचि जगी है वह तो इस

चैतन्यस्वभाव की महिमा के लिए ही सब कुछ न्यौछावर करेगा ।

अज्ञान में ही दुरनुभूति – भावों में विपरीतता होना, गंदगी होना, धोखा देने की बात होना—यह हो सकेगा अज्ञान में ही । जैसे कि अंजना के प्रथमदर्शन में पवनंञ्जय ने पहिले ही यह सोचा था कि ऐसी विमुख अञ्जना से शादी न करनी चाहिए । फिर सोचा कि अगर शादी न की तो फिर इसे मजा ही क्या चखा पाऊँगा ? फिर इससे एक बात भी न करूँगा । किया उसने ऐसा ही, शादी कर लिया और छोड़ दिया २२ वर्ष तक के लिए । यह है छल वाली बात। अन्तस्तत्त्व के वातावरण में छल कहां है ? शुद्ध विचार है, शुद्ध आशय है, ज्ञान के लिए ही गति है ।

इस प्रकरण से शिक्षाग्रहण – ज्ञानी पुरुष बाहर में तुष्ट नहीं होता किन्तु अंत:स्वरूप में ही संतुष्ट रहता है, जबकि अज्ञानी जीव बाह्य विषयों में ही संतोष किया करते हैं । यह अज्ञानी और ज्ञानी की प्रकृति कही गयी है । इससे एक तो यह शिक्षा लेना है कि अत्यन्त विमोहित पुरुष से, मूढ़ आत्मा से व्यवहार न करना, दूसरी बात यह ग्रहण करना है कि बाह्य साधनों में संतोष करने से मूल में संतोष नहीं आया करता है और अंत:स्वरूप में संतोष होता है तो शांति ही है – ऐसा जानकर बाह्य पदार्थों से कौतुकता छोड़कर अपने आपमें ही अपने आपको खोजो और अपने आपमें ही परमविश्राम लेकर अपने में ये अमूल्य क्षण सफल करो ।

श्लोक 61

न जानन्ति शरीराणि सुखदु:खान्यबुद्धय:।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते॥६१॥

मोही प्राणीयों की अचेतन में निग्रह अनुग्रह की बुद्धि – बहिरात्मा की दृष्टि बाह्य में रहती है और उसे बाह्य में ही संतोष हुआ करता है । इस पर आचार्य महाराज खेद प्रकट करते हुए यह बता रहे हैं कि देखो ये शरीर सुख और दु:ख को जानते भी नहीं हैं, लेकिन यह प्राणी इन शरीरों में ही विग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करता है । यह सब अज्ञान का फल है । कृपा तो उस पर की जाना चाहिए जो कुछ जानता हो और हमारी कृपा का आभार मान सकता हो और दण्ड भी उसे देना चाहिए जो दण्ड का अनुभव कर सकता हो और कुछ तकलीफ भी मान सकता हो । जैसे किसी को चलते हुए में किवाड़ लग जायें, किवाड़ के ऊपर का काठ सिर में लग जाये तो क्या किसी को देखा है कि उस काठ को दण्ड दे, उसे पीटे, दो चार बेंत मारे ? न देखा होगा और

कभी देखा होगा तो उसकी गिनती उन्हीं अविवेकियों की लिस्ट में रख लेना चाहिए । जैसे कि ये संसारी मोही प्राणी इस शरीरादिक में चैतन्य न होने पर भी निग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करते हैं ।

मूढ़ या नादान की बुद्धि – अचेतन में निग्रह अनुग्रह की बुद्धिवाला प्राणी या तो कोई मूर्ख होगा, जो इस अचेतन काठ पत्थर को पीटकर, मारकर अपने को संतुष्ट कर सकेगा कि इस किवाड़ ने मुझे मारा, दु:ख दिया तो इस किवाड़ को भी हमने खूब सजा दे दिया फिर नादान बच्चा संतुष्ट हो जायेगा । किसी बच्चे के कुछ लग जाय तो मां उस काठ पत्थर को ही तीन चार मुक्के रैपट मारकर बच्चे को प्रसन्न कर देती है । बच्चा सोचने लगता है कि मुझे इस लकड़ी ने दु:ख दिया, तो मेरी मां ने इस लकड़ी को मार दिया, खूब खबर ले ली । नादान ही इन अचेतन पदार्थों में निग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करेगा, किन्तु विवेकी इन अचेतन पदार्थों में कृपा और दण्ड की बुद्धि नहीं करता है, किन्तु यह पर्यायमुग्ध प्राणी, अनादिकाल के मोह का रोगी इन बाह्य अचेतन पदार्थों में शरीर में, निग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करता है ।

भूख प्यास का कारण शरीर – भैया ! इस शरीर की कितनी भी खुशामद करो, पर यह कृतज्ञ नहीं हो सकता है । पहिली बात तो इसमें जान ही नहीं है । दूसरे अपनी प्रकृति के अनुसार ये दु:ख का ही कारण बनेगा, सुख का कारण नहीं हो सकता है । देखो जितने भी क्लेश होते हैं हम आपको उन सबका कारण यह शरीर है । मोह में न माने यह बात दूसरी है, क्योंकि शरीर में आत्म बुद्धि है या यों कह लो कि संसार से सम्बन्ध में ही चैन मानी जा रही है । कितने कष्ट हैं, उन कष्टों को गिन-गिन कर निर्देशन करके सामने रख लीजिए, क्या-क्या कष्ट हुआ करते हैं ? भूख लगती है तो उसमें भी शरीर का कारण पड़ा या नहीं ? शरीर है, पेट है, भीतरी रचनाएँ हैं, क्षुधा होती है और शरीर न हो, केवल यह आत्मा हो, तो किसे लगेगी भूख ? जब यह अमूर्त है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, भावात्मक है तो भूख नाम की चीज क्या ? प्यास लगे तो उसमें भी यही बात घटा लो कि शरीर ही उसका कारण पड़ता है । कुछ भी क्लेश हो तो उसमें भी कारण यह शरीर ही तो पड़ा ।

ठंड गर्मी जीवन मरण के क्लेश का कारण शरीर – न होता शरीर का संग तो ठंड कहां से लगती ? भावात्मक अमूर्त चैतन्यस्वरूप इस आत्मा में ठंड का प्रवेश नहीं होता है । कभी आकाश को भी ठंड गरमी, भूख, प्यास लगी है क्या ? क्या आपने कभी यह सुना है कि आकाश को लू लग गयी ? तो जैसे आकाश को ठंड, गर्मी, भूख, प्यास, लू आदि नहीं लगती है ऐसे ही आत्मा में जो आत्मस्वरूप है उसकी बात कह रहे हैं । कोई देह को ही जीव मान ले

उसकी बात नहीं कह रहे हैं, आत्मा में शीत उष्ण आदि नहीं हैं तो कहां से सर्दी गर्मी लगेगी ? जीवन और मरण के भी क्लेश इस शरीर के सम्बन्ध से ही होते हैं । अब नया शरीर मिल गया लो जीवन मान लिया । अब पाये हुए शरीर का वियोग हो गया, लो मरण हो गया । न हो शरीर केवल यही आत्मा हो जो स्वयं सत् है तो इस जीवन का नया क्लेश और मरण का नया क्लेश ? जीवन मरण इस आत्मा में हैं ही नहीं । जो क्लेश हों सामने रख लो ।

धनहानि, कीर्तिहानि व व्याधि के क्लेशों का कारण शरीर – धन चला गया, मान लो यह एक क्लेश है । सरकार ने छीन लिया, डाकू ले गए, व्यापार में टोटा पड़ गया, ये सब क्लेश भी तो इस शरीर के ही संबन्ध से हैं ना । किसी ने शरीर के संसर्ग में शरीर को अपना लिया कि यह मैं हूं और ऐसे अपने शरीर में भी अपनायत की व दूसरों के शरीर में यह दूसरा आत्मा है – ऐसी अपनायत की । जब यह मान लिया कि यह मैं हूं और यह पर है, तब ये यश, मान, सम्मान, प्रतिष्ठा, इज्जत, पोजीशन आदि इस शरीर के व्यवहार से लग बैठेंगे । अब उस इज्जत पोजीशन की संभाल के लिए कुछ साधन भी चाहिएँ ना ।

भैया ! वह साधन मुख्य धन वैभव है । तो अब उसके कम रह जाने से यह क्लेश मान लेगा। धन के मिटने का भी जो क्लेश हो, उस क्लेश में भी मूल बात तो निरखिए । शरीर का सम्बन्ध ही उस क्लेश का कारण है । रोग हो, उसका भी कारण शरीर ही है । समस्त क्लेशों का कारण शरीर में आत्मबुद्धि है, शरीर का संग होना है ।

अननुग्राह्य शरीर पर मोहीयों की अनुग्रहबुद्धि – इस शरीर को ये मोहीजन कितना पोसते हैं ? देख देखकर खुश होते हैं कि मेरा शरीर इतना बलवान् है, अब इतना गठीला हो गया । चपटी नाक हो और ऐने में अपना मुख देखे तो थोड़ी गर्व की रेखा आ जाएगी । मैं बड़ा रूपवान हूं। इस शरीर को कितना पोसते हैं, कितना आदर करते हैं, किन्तु यह शरीर क्लेशों का ही कारण बनता है । तिस पर भी अज्ञानी जीव इस शरीर में ही अनुग्रह बुद्धि करते हैं । बात बात पर कभी झगड़ा हो जाय तो उसका भी कारण देखो शरीर का ही सम्बन्ध है । लोग सोचते हैं कि इसने यह क्यों कह दिया मुझसे ? यह देहपिण्ड जो दूसरों को दिखता है, उससे मतलब नहीं है । मुझसे का वास्तविक मतलब तो चैतन्यस्वरूप से होता है । इस चैतन्यस्वरूप में एक तो बात नहीं पहुंचती और फिर जिसको यह प्रतीति हो जाए कि ऐसा यह मैं अमूर्ततत्त्व हूं, उसको तो इस चैतन्यतत्त्व की ओर से एक भी कल्पना न उठेगी । यह जीव इस शरीर में आत्मबुद्धि किए हुए है, इस कारण इस शरीर पर अनुग्रह बुद्धि करता है ।

व्यामोही जीवों की शरीर पर निग्रह बुद्धि – अब निग्रह की बुद्धि भी देखिए – कोई कोई पुरुष अपने ही हाथ से अपना ही माथा ठोकते हैं, सिर में ही ठोकर मारते हैं । कितने ही पर्यायमुग्ध जीव उनकी जो धर्म की धुन बैठ जाए, उसे ही धर्म कहा करते हैं । यह देह ही मैं हूं, फलाने लाल, फलाने चन्द, अमुक प्रसाद यह ही मैं हूं । इस मुझको धर्म करना है तो क्या चाहिए ? तीन चार दिन का अनशन कर लें, यह पयार्यमुग्धियों की बात कह रहे हैं । क्यों करते हो भाई अनशन ? यहां देह से तपस्या करना है । यह देह हमारा साथी नहीं हो रहा है, इसलिए इसे ताड़ना देना है । अब निग्रहबुद्धि कर रहे हैं, दण्ड दे रहे हैं । यह शरीर ही दु:ख का कारण है— ऐसा जानकर शरीर को सुखा रहे हैं । ज्ञानी पुरुष के तपस्या और अनशनों का मर्म और कुछ है, उनका तो सब सहजवृत्ति से ज्ञान की रक्षा करते हुए तपश्र्चरण होता है ।

व्यामुग्धदेहियों की अन्य शरीरों पर भी निग्रह-अनुग्रहबुद्धि – यह जीव अपने शरीर पर भी निग्रह और अनुग्रह बुद्धि करता है और दूसरों के देह पर भी निग्रह और अनुग्रह की बुद्धि करता है । यह तो बड़ा आसान बन रहा है इन मोही जीवों को । कोई दूसरा शरीर रुच गया तो उसे लालित व शोभित करते हैं । किसी दूसरे ने कष्ट पहुंचाया तो उसको पीटना है, दण्ड देना है या जान तक ले लेनी है, यह निर्णय व यत्न बन जाता है । यह क्या है ? निग्रहबुद्धि होना । ये देह जिन पर क्रोध किया जा रहा है, ये क्या कुछ जानते हैं ? नहीं जानते हैं ? फिर भी किसी के द्वारा किसी को कष्ट पहुंचता है । बदला लेने में उस देह को ताड़ करके उसकी जान लिया करते हैं ।

वह देह तो कुछ जानता ही नहीं है । उस अचेतन देह को ताड़ने से उस मलिन जीव को वस्तुत: क्या दण्ड मिला ? रहा भीतर का आत्मा, उसको दण्ड देना चाहते हो तो देखिए आत्मा को दण्ड देने का क्या साधन है ? उसमें मुक्के तमाचे लगाना नहीं है या उसे गालियां देकर या ठोक पीटकर चाहो कि उसको दण्ड मिल जाएगा, यह नहीं है । दण्ड का अर्थ यह है कि फिर यह दोष न कर सके – ऐसी स्थिति बना देना, इसी का नाम तो दण्ड है । उस मनुष्य में, उसकी आत्मा में फिर यह दोष न आए, इसका उपाय तो वात्सल्य है, ज्ञान देना है । उसके अनुकूल बनकर याने हितैषी बनकर ऐसा व्यवहार करो, जिससे उसको विश्र्वास हो जाए और फिर उसे शिक्षा दो, उसके दोष मिटेंगे । यह बताओ कि क्या उपाय हो सकता है कि उसको पीड़ा फिर दुबारा न हो ।

शरीर की सजावट से जीव में अभ्युदय का अभाव – यह शरीर जड़ है । इसको सुखी रखने से, शोभित रखने से आत्मा का अनुभव नहीं होता । इस शरीर को कितना ही कसो, परन्तु यह नहीं

समझ सकता कि मुझे दण्ड दिया जा रहा है । इस शरीर पर कितनी ही अनुग्रह बुद्धि करें, यह नहीं समझ सकता कि मुझ पर क्रोध किया जा रहा है । आज सुबह देखा कि एक पुरुष तीन घोड़े लादे जा रहा था । उनमें एक घोड़ा बहुत दुबला पतला था । उसकी हड्डी निकल आई थीं, पर उसकी सजावट खूब की गयी थी । अब आप यह बतलाओ कि उस सजावट से क्या घोड़ा खुश है ? अरे वह तो यह चाहता है कि मेरी सजावट में जो खर्च हुआ हो, वह घास, भुस आदि मेरे खाने की चीजों में खर्च कर दिया जाता तो अच्छा था । उसे तो भर पेट भोजन चाहिए । सजावट से उसे क्या लाभ है ? यह तो एक दृष्टांतरूप बात है । यहां तो और भी इससे भी तथ्य की बात कही जा रही है ।

शरीरश्रृंगार से कर्मबन्धन का सम्बन्ध – यह शरीर तो कुछ भी नहीं जानता है । शरीर को यदि खूब सजा दिया जाए गहनों से, पैरों से लेकर सिर तक कितने ही आभूषण लाद दिये जाएँ, आभूषण का सिर पर मेंढक, कान में ततैया, नाक में मकड़ी, पैरों में अच्छे ढङ्ग की मछली सी पहिन लें, कितना ही कुछ सजा लें, पर उस सजावट से इस शरीर को कुछ चैन मिलती है क्या ? काहे को यह सजावट की जा रही है ? यह सजावट क्यों की जा रही है ? यह सजावट पाप बांधने के लिए की जा रही है । कैसे ? यह तो शरीर मैं हूं और इसकी सजावट होनी चाहिए । शरीर के सजाने का परिणाम लगा हुआ है और श्रृंगार की ओर प्रगति है तो इससे तो पाप ही बांधा उसने । लाभ क्या लूट लिया ? शरीर तो शरीर की जगह है । आत्मा के फायदे की चीज तो ज्ञानभाव है । ज्ञान यथार्थ रहेगा तो शांति रह सकती है । जहां ज्ञान गड़बड़ हुआ, विपरीत हुआ, वहां अशांति आ ही जाएगी । यदि आप आनन्द को चाहते हो तो ज्ञानसाधना में ही लगना चाहिए । इस शरीर की निग्रहबुद्धि और अनुग्रहबुद्धि से कुछ लाभ नहीं निकलता ।

ज्ञानी की सहज शोभा – जो ज्ञानी जीव होते हैं, उन्हें शरीर की सजावट की मन में आती ही नहीं है । गृहस्थ ज्ञानी से लेकर साधु ज्ञानी तक देखते जावो, गृहस्थों में भी जो ज्ञानी गृहस्थ हैं, पुरुष हैं अथवा महिला हैं, उनके शरीर के सजावट की मन में नहीं आती है । अब पदवी के अनुसार साधारणतया तो कुछ हो ही जाता है । क्या करें ? गृहस्थ को चलाते हुए पुरुष क्या कुछ कपड़े ही न पहिनें ? कुछ तो पहिनेंगे ही । अब उसी को ही कोई शोभा श्रृंगार मान ले तो उसको क्या करे ? पर देखो ज्ञानी पुरुष मोटा कपड़ा पहिने, बटन खुला भी रहे, कहीं का कालर कहीं जाए तो भी वह शोभा में शामिल हो जाता है । इसका क्या करें ?महात्मा गांधी के चित्रों में देखा होगा, कहीं बटन ही नहीं लगा है, कहीं कमीज खुली है, एक तौलिया सी लपेटे हुए हैं, यह भी शोभा है । जिस ओर लोगों के समुदाय की दृष्टि जाए, वही श्रृंगार है, वही शोभा है ।

निग्राह्य और अनुग्राह्य आन्तरिक भाव – यह अज्ञानी जीव गुणों से तो अपनी शोभा, अपना श्रृंगार नहीं करना चाहता । और **वस्त्रों** से, आभूषणों से या रंग लपेट लिया, मुख में राख लगा लिया, ओंठ लाल कर लिया, इन बातों से शोभा श्रृंगार जताना चाहते हैं । किसी-किसी पुरुष को भी यह शौक हो जाता है । आचार्य महाराज ऐसे मोहियों की दशाओं पर खेद प्रकट कर रहे हैं कि यह शरीर सुख अथवा दु:ख कुछ भी नहीं जानता है । लेकिन यह मूढ़ पुरुष, व्यामोही जीव इस शरीर में निग्रह और अनुग्रह बुद्धि करता है । अरे निग्रह करे तो अपने कषायों का, बुरे विचारों का और अनुग्रह करे तो अपने स्वरूप का ज्ञानादिक गुणों का । इससे तो लाभ मिलेगा, भिन्न वस्तु में निग्रह और अनुग्रह करने से कोई लाभ नहीं है ।

श्लोक 62

यावद् स्वबुद्धया गृण्हीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।
संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृति:॥६२॥

जब तक यह जीव काय वचन और मन – इनको आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है तब तक इस जीव के संसार लगा रहता है और जब यथार्थ परिज्ञान के बल से इन तीनो योगों से भिन्न अपने आपकी दृष्टि रखता है तो इसको निर्वाण प्राप्त होता है ।

काय वचन मन के क्रमविन्यास का मर्म – इस जीव को भूल भटकावे में भ्रमाने का कारण शरीर, वचन और मन का संसर्ग है । कोई पुरुष तो इन तीनों का नाम इस क्रम से लेते हैं । मन वचन और काय, और कहीं इस क्रम से नाम लिया गया है, काय वचन और मन । जैसे तत्त्वार्थ सूत्र में भी लिखा है--कायवाङ् मन: कर्मयोग: । उस श्लोक में भी यही क्रम दिया गया है काय वचन और मन । इस क्रम का कारण यह है कि दिखने में आने वाले शरीर का योग स्थूल है । उससे सूक्ष्म है वचन का और उससे भी सूक्ष्म योग है मन का । इस क्रम से शरीर वचन और मन कहना चाहिए । दूसरा कारण यह है कि इस शरीर के कहने में वचन और मन अंगरूप में गर्भित हैं, पर वचन के कहने से काय नहीं ग्रहण में आता और मन के कहने से भी यह काय ग्रहण में नहीं आता इसलिए कम व्यापक है । वचन और मन व्याप्य है ।

अज्ञानी का मिथ्या अभेदाध्यास – यह व्यामोही प्राणी शरीर में आत्मबुद्धि बनाये हुए हैं कि यह शरीर मैं हूं । अज्ञानी नहीं सोचता है कि यह शरीर मैं हूं क्योंकि ऐसा यदि सोचे तो उसमें थोड़ा भेद तो उसने डाल लिया, यह शरीर मैं हूं । दो चीजें तो इस वाक्य में आ जाती हैं, पर अज्ञानी को दो की बात भी मालूम नहीं है । वह तो मैं हूं, ऐसा समझता है शरीर के सम्बन्ध में । अज्ञानी की भूल को ज्ञानी बता रहा है । इस कारण यह वचनरचना बनती है कि यह शरीर में आत्मबुद्धि करता है, किन्तु अज्ञानी की दृष्टि में दो चीजें हैं कहां शरीर और आत्मा । वह तो मैं हूं ऐसा मानता है । ज्ञानी कह रहा है यों अज्ञानी को । अज्ञानी इस शरीर को ही यह मैं हूं, ऐसा मानता है । अज्ञानी की दृष्टि में तो शरीर ही रहता है । उसका तो वही सर्वस्व है ।

शरीरस्नेह से कष्ट होने का कारण – इस शरीर के स्नेह में कष्ट क्यों होता है ? मोटी बात तो यह है कि शरीर भिन्न वस्तु है, अत: वह अपने परिणमन से परिणमता है । यह जीव किसी भी प्रकार का परिणमन चाहता है । इसका चाहा हुआ परिणमन चेष्टा में हो जाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता ना, तब शरीर के विरुद्ध परिणमन को देखकर यह जीव दु:खी होता है । दूसरी बात यह शरीर रोग से भरा है । इस शरीर के कारण नाना क्लेश हो रहे हैं । क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डांस मच्छर काटे, कांटा, सूई, कंकड़ चुभ जाय । ये अनेक प्रकार की पीड़ाएँ चलती हैं । शरीर को यह मैं हूं ऐसा मानने पर पीड़ा को भी अंगीकार कर लिया जाता है । तीसरी बात यह है कि शरीर आत्मा से भिन्न है । भिन्न पदार्थों की ओर, अर्थात् अपने से बाहर की ओर दृष्टि करने का स्वभाव ही क्लेश करने का है । बाह्य चीजों में क्या होता है और किस कारण से फिर क्लेश होता है ? यह सोचना तो दूर की बात है, किन्तु अपने से बाहर अपनी दृष्टि लगाई कि वहां क्लेश होने लगता है । यों इस शरीर को अपनाने से जीव दु:खी हुआ करता है ।

संसारवृद्धि का उपाय – बहिरात्मा शरीर में 'यह मैं हूं' ऐसी स्वबुद्धि ग्रहण करता है । इस कारण इसका संसार लम्बा होता चला जा रहा है । शरीर के मिलने का ही नाम संसार है और शरीर के मिलते रहने का उपाय है शरीर को अपनाना । शरीर को 'यह मैं हूं' ऐसी आत्मबुद्धि से ग्रहण करना यह है इन शरीरों के मिलते रहने का उपाय और शरीरों के मिलते रहने का ही नाम है संसार । यों शरीर को अपनाने से संसार होता है और जब शरीर में और आत्मा में भेद बुद्धि कर ली जाती है, भेदाभ्यास हो जाता है तब इसका शरीर से छुटकारा होने का वातावरण बन जाता है । अज्ञानी शरीर को स्वबुद्धि से ग्रहण करता है, किन्तु ज्ञानी शरीर को पर जानकर इसकी उपेक्षा रखता है, आत्मबुद्धि से ग्रहण नहीं करता ।

विवाद का कारण वचन – दूसरा योग है वचन का । अज्ञानी पुरुष वचनों में भी आत्मबुद्धि किया करता है । जैसे जो इस मनुष्य ने बोला, वचन कहे, उन वचनों में कोई अड़चन डाले, विघात करे, अपमान करे तो यह अज्ञानी ऐसा महसूस करता कि मेरा अपमान किया गया । उन वचनों को आत्मारूप से इसने ग्रहण किया । तब वचनों के निराकरण से इसने अपना निराकरण माना । बहुत बड़ी विपदा और विडम्बना की यह बात है कि इस मनुष्य के वचनों में आत्मबुद्धि रहा करती है । कोई अपमान की बात कहे, गाली दे, इसके मन के प्रतिकूल कहे तो इसे कितनी पीड़ा पहुंचती है, और उसमें अपना अपमान समझ कर यह कितना झगड़ा बना लेता है ? झगड़े की जड़ अधिकतर ये वचन होते हैं ।

बैर विवाद विस्तार का हेतु – गांव में अनेक घर हैं । सभी घर अपना-अपना कमाते हैं । खाते हैं, किसी को किसी भी पराये धन की अभिलाषा नहीं है क्योंकि ऐसा होता नहीं है कि दूसरे का धन अपने को मिल सके । ऐसी सबके मन में बात है । इसीलिए धन के कारण तो किसी पड़ौसी से दूसरे पड़ौसी का झगड़ा नहीं होता क्योंकि उसका हिसाब तो साफ-साफ है । जो आपने कमाया, आपने जोड़ा, आपने रखा । आपके नाम पड़ा, आपके कब्जे में है, वह आपका है और दूसरों के नाम जो लिखा है, दूसरों के कब्जे में है वह दूसरे का है । कोई किसी दूसरे के धन पर कभी विवाद भी करता है क्या ? आज आप इस मकान में रहते हैं तो क्या आपकी ऐसी भी इच्छा होती है कि कल हम उसके मकान में रहेंगे ? ऐसा तो आप कभी न सोचते होंगे तो धन वैभव सम्पदा पर विवाद नहीं खड़ा होता है, किन्तु वचनों पर विवाद खड़ा हो जाता है । जिससे जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है न धन का सम्बन्ध है, न वैभव सम्पदा से सम्बन्ध है, किन्तु वचन व्यवहार अनुचित हो जाय तो वहां विवाद खड़ा हो जाता है । अब आप समझो कि शरीर से और धन से भी बढ़कर वचनों को कितना अपनाया है इस मोही ने । बड़ी से बड़ी विडम्बनाएँ, बड़े से बड़े कलह न कुछ वचनों के कारण हो जाते हैं । जो वचन न चिपकते हैं, न लगते हैं, न जिनकी कोई शकल दिखती है वे वचन इतने विवाद के कारण बन जाते हैं कि जिसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता है ।

युद्ध में जोशवृद्धि का उपाय – जब पहिले जमाने में युद्ध होता था तो आमने-सामने दोनों सेनाओं के सुभट खड़े होते थे, पर लड़ने की ताकत बड़े इसके लिए एक सुभट उस विरुद्ध पक्ष के दूसरे सुभट को अनापसनाप पहिले बातें करता था । क्या खड़ा है बेसुर्त, तुझे कुछ सुर्त भी है । तू तो एक कायर की भांति खड़ा है । ऐसे शब्द वह बोलता था कि जिसके बदले में उससे भी सुनने को बातें मिलें । तब लड़ने का जोश पैदा होता था । इतना वचनों का संसर्ग है, सम्बन्ध है और अपनायत है, इन वचनों की अपनायत से भी यह मोही प्राणी बड़े क्लेश सहता रहता है ।

इन वचनों को बाण की उपमा दी जाती है । जो खोटे वचन बोले, वे बाण की तरह दूसरे के मर्म को छेद देते हैं । यदि वचन बाण हैं तो मुख तो धनुष हो गया । जब कभी गुस्से में आकर कोई मुंह तानकर बोलता है तो उस समय उसके मुंह का आकार भी तना हुआ धनुष जैसा हो जाता है और उसके बीच से फिर वचन का बाण निकलता है, जिसके यह वचनबाण लग जाता है, वह फिर पागल होकर प्रतिक्रिया की बात सोचने लगता है । इन वचनों को इस मोही प्राणी ने आत्मरूप से ग्रहण किया है और इसीलिए इसका दु:ख और बढ़ता जाता है ।

मन का उत्पात – तीसरा योग है मन का । यह मन दिखता भी नहीं है, बड़ा सूक्ष्म है । दूसरे के मन का भी हम ज्ञान नहीं कर सकते हैं, इतना सूक्ष्म है यह मन, किन्तु मन का जो योग है, मन की जो चेष्टा है, विचारों की जो कल्पना है, यह बड़े दु:ख का कारण बन जाता है । आज भी और पहिले भी, सदा से यह सुखिया मनुष्य, यह सुखिया जीव, जिसको खाने पीने का और सब प्रकार का अच्छा साधन लगा हुआ है, यह भी निरन्तर दुखी रहता है। काहे का दुख है ? भोजन भी मिलता है, कपड़े भी हैं, आराम भी है, किन्तु देखिए कि यह दुख किस बात का है ? यह सब मन का दुख है ।

भैया, इस मायामयी दुनिया में जहां कुछ रहने वाला नहीं है अथवा ये मायामयी मूर्तियां जो स्वयं मलिन हैं, पतित हैं, कर्म के प्रेरे हैं, इन मायामयी मूर्तियों में जहां यश चाहा, पोजीशन चाही, बस वहीं नाना खोटी दशायें बन जाया करती हैं और यह जीव दुखी हो जाया करता है । मन के अनुकूल बात न होने में यह कितना व्यग्र हो जाता है, जिसका क्लेश इस काय और वचन से भी अधिक है । देखिये कि स्थूलता में तो काय स्थूल है ही, वचन कम स्थूल हैं, मन उससे भी कम स्थूल है, पर क्लेश का कारण बनने में काय से बड़ा है । क्लेश का कारण वचन है और वचनों से भी बड़ा क्लेश का कारण मन है ।

मन के प्रसाद व अप्रसाद का महत्व बताने वाली कहावत – लोग तो कह देते हैं कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। कठौती जानते हो किसे कहते हैं ? काठ की परात, जिसमें चमड़ा बनाने वाला चमड़ा भिगोकर जूते बनाता है, उसे कठौती कहा करते हैं । चर्मकार उस कठौती में बार-बार चमड़ा भिगोता है । एक कोई घटना सुनते हैं कि एक ब्राह्मण गङ्गा में नहाने जा रहा था तो चर्मकार ने कहा कि पण्डितजी हमारे दो पैसे लेते जावो और गंगामैया को हमारे दो पैसे और ये फूल चढ़ा देना और देखो कि जब गंगा मैया हाथ निकाले, तब उसके हाथ में चढ़ाना । ऐसे ही न फेंक देना । दो पैसे और फूल उस ब्राह्मण ने ले लिए और मन में सोचा कि अरे भाई,

गंङ्गामैया हाथ कहां निकालती है ? खैर दो पैसे और फूल ब्राह्मण ने लेकर कहा कि चढ़ा देंगे। अब वह गंङ्गा किनारे पहुंचा और सोचा कि दो पैसे का कुछ खाने पीने का ही ले लें और फूल फेंक दें । जब पण्डितजी गङ्गा स्नान करके वापिस लौटे तो चर्मकार ने पूछा कि पण्डितजी, हमारे दो पैसे और फूल चढ़ा आए ना ? हां चढ़ा आए । तो गङ्गा मैया के हाथ में ही चढ़ाया था ना ? अरे गंगामैया कहीं हाथ भी निकाला करती है क्या ? चर्मकार ने कहा यह तो तुमने ठीक नहीं किया, न हाथ निकालती गंगामैया तो न चढ़ाते ।
अब ब्राह्मण ने एक दो बातें सुनाईं तो चर्मकार कहता है कि हम तो फूल और पैसे अभी चढ़ायेंगे । गंगामैया हाथ निकालेगी तो चढ़ायेंगे, नहीं तो न चढ़ायेंगे । अब वह गंगामैया का ध्यान करके बैठ गया और कहा कि हे गंगा मैया ! मेरे ये फूल ग्रहण करो । अब गंगामैया ने उस कठौती से हाथ निकाला और फूल ग्रहण किए । ऐसा हुआ नहीं होगा और हुआ भी होगा तो कौतूहल करने वाले व्यन्तर बहुत से फिरते हैं तो उनमें से किसी ने अपना हाथ निकाल दिया होगा, तभी से यह बात प्रसिद्ध है कि मनचंगा तो कठौती में गंगा ।

मन का महाक्लेश – भैया ! मन की प्रसन्नता और अप्रसन्नता का इतना बड़ा हिसाब है, सब आराम है । कोई सेठ है, करोड़पति भी है, सैंकड़ों हजारों पुरुष जिसकी हजूरी में रहा करते हैं, ऐसे पुरुष भी मन से चाह की कि बस इतने से ही दुखी हो जाते हैं । मनचाही बात किसी की पूरी फलती नहीं है, क्योंकि कोई बात फल भी जाए तो मन आगे की चाह कर बैठता है । तो वह कर्जा तो बराबर बना ही रहता है । कहां तक कमायी हो ? कहां तक बाह्यपदार्थों की पूर्ति हो ? पूर्ति हुई कि मन से फिर आगे की बात की चाह करी । इस प्रकार मन का क्लेश भी बहुत बड़ा क्लेश होता है ।

मन के क्लेश का एक दृष्टान्त – एक गरीब ब्राह्मण राजा के पास गया और कहा कि महाराज ! हमारी कन्या की शादी है, सो कुछ अच्छी तरह से हो जाय, सो ठीक है । राजा ने कहा कि जावो, तुम कल जो मांगोगे सो दिया जाएगा । अब वह बड़ा खुश होता हुआ घर आया और एक खरेड़ी खाट पर लेट गया । उसे नींद न आए । रोज वैसे ही लेट जाता था, और नींद आ जाती थी, पर उस रात नींद न आयी । सोचा कि कल मैं राजा से क्या मांगू ? हो न हो १०० रु.. मांग लें । उस गरीब के दिमाग के लिए १०० रु. बहुत थे । फिर सोचा कि १००) तो अमुक के पास हैं, वह भी सुखी नहीं है, तो हजार मांगू । अरे हजारपति तो अमुक भी है, वह भी सुखी नहीं है तो लाख मांगू । अरे अमुक लखपति है, वह भी सुखी नहीं है । न हो तो करोड़ मांगू । अरे अमुक सेठजी भी तो करोड़पति हैं, वह भी तो सुखी नहीं है । फिर मन में आया कि राजा से आधा राज्य मांग लूं । अरे आधा शासन तो हमारा चलेगा और आधा राजा

का चलेगा, लेकिन लोग यह कहेंगे कि इसका आधा राज्य मांगा हुआ है । न हो तो पूरा ही राज्य मांग लूं।

अब आया प्रात: और प्रभुभजन का समय हुआ । अब वह प्रभु का भजन करते हुए में सोचने लगा कि अरे राज्य में क्या सुख है ? देखो कि राजा भी तो दुखी है, इन्हें रात दिन चैन भी न आती होगी । जैसे आजकल के राजावों को देख लो । अब सोचा कि राज्य लेने में तो बहुत ही बड़ी विडम्बना है । करोड़ मांगू क्या ? नहीं नहीं, करोड़ भी लेने ठीक नहीं हैं । लाख मांगू ? अरे लाख भी मांगना ठीक नहीं है । हजार ही ठीक हैं, अरे हजार भी ठीक नहीं हैं । १०० रू. ही अच्छे हैं । लो १००) से शुरू किया था और १००) पर ही आ गया । अचानक ही राजा वहां से निकला और राजा ने कहा कि कहो विप्रदेव ! क्या चाहते हो तुम अपनी कन्या की शादी के लिए ? सो वह हाथ जोड़कर बोला कि महाराज माफ करो । जब हमने आपसे कुछ मांगा न था, तब तो नींद नहीं आयी और जब आपसे मांग लूंगा तो न जाने मेरा क्या हाल होगा ? तो राजन् माफ करो, हम जिस स्थिति में हैं, उसमें ही भले हैं ।

देहविविक्तता का दर्शन -- भैया ! मन की विडम्बना देखो कि बड़े ही आराम के साधन हैं, तब भी यह मोही जीव सुखी नहीं रह सकता है । यों शरीर, वचन और मन, इनको जब तक यह जीव आत्मबुद्धि करके ग्रहण करता है, तब तक इसका संसार और लम्बा होता है और जब इन तीनों से भिन्न ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपका आश्रय लेता है । इस आश्रय के प्रताप से मोक्षमार्ग प्रकट होता है और निकट भविष्य में समस्त संकटों से इसे मुक्ति मिल जाएगी । अत: हम सब कल्याणार्थियों को चाहिए कि काय, वचन और मन से अपने को विविक्त ज्ञानमात्र निरखें ।

श्लोक 63

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुध:॥६३॥

जिस जीव के शरीर और आत्मा में भेदाभ्यास दृढ़ हो जाता है, वह अन्तरात्मा पुरुष शरीर की किसी भी अवस्था के होने पर उस रूप अपने को नहीं मानता है । जैसे कोई पुरुष बड़ा मोटा

कपड़ा पहिन ले तो कहीं वह अपने को मोटा नहीं मान लेता है । कोई दुर्बल सूखा पुरुष रुईदार बण्डी, कुर्ता, कोट पहिन ले तो कहीं वह अपने को मोटा नहीं मान लेता है ? इसी प्रकार यह देह कितना ही मोटा हो जाए, फिर भी यह ज्ञानी पुरुष अपने को मोटा नहीं मानता है । पर्यायव्यामोही पुरुष एक इस शरीर को मैं बलवान् देखूँ, सबसे ज्यादा बलवान् पुष्ट होऊँ, इस ख्याल से पहलवानी का व्यायाम करता है, श्रम करता है, पसीना चू रहा है, कितनी ही दण्डबैठक हो गयी है और बीच बीच में अपने भुजा अपनी वक्ष: स्थल व अंग देखता जाता है, मैं बहुत मजबूत हूं, पुष्ट हो गया हूं, मोटा हो गया हूं । इस प्रकार ये सब व्यामोही पुरुष अपने को ही बर्हिमुख कर रहे हैं । इन व्यामोही पुरुषों को यह दृष्टि नहीं प्राप्त हुई है कि आत्मा तो ज्ञानबल से भी बलवान् है । ज्ञान बल नहीं है तो यह देह कितना भी पुष्ट हो जाए, उसे कहीं धैर्य, चैन, साहस नहीं हो जाएगा ।

अज्ञानी का श्रम – अज्ञानी पुरुष देह से मोटा, तगड़ा, पुष्ट होने से अपने को तगड़ा मानता है। शरीर धर्म के नाते स्वस्थ रहने के लिए थोड़ा श्रम करे, व्यायाम भी करे, थोड़ा काम करे, परोपकार करे, पर मैं शरीर से पुष्ट होऊं और मैं दुनिया में सबसे अच्छा कहलाऊं, इस भाव से शरीर को तगड़ा बनाने का यत्न के मायने हैं कि अपने आपको जड़ मान लिया और ऐसी ही स्थिति में व्यायाम करके तो यह पसीने से लथपथ कर देगा । श्रम करेगा और किसी दु:खी को कोई बोझा उठाकर सिर पर भी रखाना हो तो उसके लिए श्रम न होगा । अरे दुखियों का उपकार करने में दोनों बातें निभती हैं, शरीर का व्यायाम भी हो जाता है और दूसरों का दर्द मिटता है । आत्मा को बल मिलता है बुद्धि ठिकाने रहती है । यदि वह यों देखे कि उपकार करते हुए में पूरा श्रम नहीं होता तो उसकी कसर फिर खूब दण्ड बैठक करके निकाल लेवे, परन्तु प्रवृत्ति पर के उपकार के लिए न हो, हमारे शरीर का कोई श्रम नहीं हो और शरीर की पुष्टि के ख्याल से बड़ा व्यायाम व श्रम करके अपने को पसीने से लथपथ कर लिया जाए, यह क्या है ? पर्यायव्यामोह है ।

सदृश बाह्यवृत्ति में भी आशय का अन्तर – भैया ! किसी भी कार्य में आशय के भाव से अपने में बड़ा भेद हो जाता है । महलों में, घरों में जगह जगह दर्पण रखे हैं । दर्पण उठाया और देखा । यह देखना किसलिए है ? मैं खूबसूरती में ठीक हूं या नहीं, कुछ कमी तो हमारे श्रृंगार में नहीं रह गयी, इस काम के लिए वह दर्पण है । बाल बन रहे हैं, वह दर्पण लिए हैं और संतोष करते जा रहे हैं, यह ठीक श्रृंगार कर रहा है । थोड़ी भी गड़बड़ हुई तो टोक दिया जाएगा कि अरे ठीक बना । कपड़ा पहिनकर चलेंगे तो अब कोट की कालर तो दिख नहीं सकती, सो अब कोट की कालर देखने को दर्पण ही तो चाहिए । उसको दर्पण में मांग संभालनी है । टोपी ठीक है या

टेढ़ी लगी है या नहीं, उसको भी दर्पण में देखा । यों मोहीजनों का दर्पण में देखना श्रृंगार के लिए होता है, किन्तु किसी का दर्पण का देखना भी वैराग्य के लिए हो जाता है ।

सुबह किसी गुरु या देव का दर्शन करे और न कर सके तो अपने ही चेहरे का दर्शन करे । क्यों करे ? यह ज्ञानी की कथा है कि चेहरे को देख लेगा तो दो बातें वह अपने से अपने हित की कहेगा । इतने दिन जीवन के बिताए, अपने भले के लिए कुछ काम कर पाया तूने या नहीं ? यह जिन्दगी यों ही ढली जा रही है । जल्दी चेत, कल्याण कर, विवेकी पुरुष को आईने में अपना चेहरा देखने पर, किन्तु पर्यायव्यामोही को या तो शरीर के बूढ़े होने का या कोई सौन्दर्य मिटने का दु:ख होगा या खूबसूरती नजर आने से यह व्यामोही पुरुष हर्ष मानेगा। ऐसी अन्तर्वृत्ति ज्ञानी और अज्ञानी में विलक्षण होती है ।

अज्ञानी और ज्ञानी का पुष्टितर्कणा – ज्ञानी इस देह की किसी अवस्था से अपने में कोई क्षोभ नहीं लाता है । वस्त्र मोटा होने पर कोई दुबला शेखी मारे तो उस शेखी से कहीं ताकत तो न आ जाएगी । भले ही मारे शेखी । यों ही देह के पुष्ट होने से अपने को पुष्ट मानने वाले अज्ञानी पुरुष के कहीं शांति तो न आ जाएगी, आत्मबल तो नहीं आ सकता है ? देह से अपने आत्मा का भेदविज्ञान करना, यह करण ज्ञानी के सुदृढ़ है । जैसे लोग बाहरी बातों में तैयारी देखकर मेरा घर अब चारों ओर से मजबूत है, मैंने देश में, समाज में सब तरह से अपनी मजबूती बना ली है । अब मुझे कुछ डर नहीं हैं । यों बहिरात्मापुरुष सोचता है तो अन्तरात्मा पुरुष अपने ही आपके भीतर की तैयारी करके संतोष करता है । अब मैंने अपने आत्मस्वरूप को परख लिया है । अब मुझे अरक्षा का कोई भय नहीं है । मुझे परवस्तुकृत इस लोक में अथवा परलोक में कहीं भी विपदा की शंका नहीं है । मेरा सब कुछ मेरे में ही बसा है । मैंने अपने आपको खूब तैयार कर लिया है, अब भय नहीं है । यह ज्ञानी पुरुष अपनी आंतरिक पुष्टि से अपने को पुष्ट समझता है ।

प्रतिक्षण समाधि की आवश्यकता – लोग कहते हैं कि शास्त्रों में लिखा है कि मरण समय में यदि कोई भय कर ले, शंका कर ले, व्यामोही हो जाए तो उसकी दुर्गति होती है । मरण में भी कष्ट होता है और मरकर उत्पन्न भी दुर्गति में होता है । तब मरणसमय में समाधिभाव रहना चाहिए । मोह न हो, किसी वस्तु में राग और द्वेष न जगे—ऐसी शुद्ध वृत्ति होनी चाहिए, पर ऐसा हो जाना कोई मरण के समय ही कर ले, जीवनभर कुछ साधना न करे तो यह बहुत कठिन बात है । इसके लिए हमको जीवनभर इसकी साधना करनी चाहिए । हम आप सबका रोज रोज क्षण क्षण में मरण हो रहा है ।

मरण दो प्रकार के होते हैं – एक आवीचिमरण और दूसरा तद्भवमरण । मरण नाम इसी का तो है कि आयु का क्षय हो जाए । जिसकी आज ५० वर्ष की उमर है, इसका क्या यह अर्थ नहीं है कि ५० वर्ष की आयु का क्षय हो चुका है ? यदि ६० वर्ष की उमर है तो क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि ६० वर्ष की आयु का क्षय हो चुका ? प्रतिक्षण आयु का क्षय हो रहा है, यह है आवीचिमरण । मनुष्य आयु का जब भी कभी समग्र क्षय हो जाएगा तो उसका नाम है अपना तद्भवमरण । जैसे तद्भवमरण में समाधि की आवश्यकता है, वैसे ही आवीचिमरण में अर्थात् प्रतिक्षण की समाधि की आवश्यकता है ।

मोह में संकटों का स्वागत – भैया ! मोह रागद्वेष परिणाम होने के बराबर अन्य कुछ संकट नहीं है । कौन सी वजह है कि संसार के अन्य सब अनन्त जीवों को तो गैर करार किया है और घर के दो चार छः प्राणियों को अपना कबूल किया है ? कौन सी वजह है, कौन सा सम्बन्ध है ? युक्ति पूर्वक किसी भी प्रकार बताओ तो सही । इस मायामयी दुनिया में जो कि प्रकट असार मलिन संसारी प्राणीयों का झमेला है, मोह की नींद का स्वप्न है, उस स्वप्न में किसी को अपना मान लें तो इससे क्या कोई अपना हो सकता है ? जो बात जैसी नहीं हो सकती है, उसको वैसा करने का यत्न करे कोई तो उसे मूढ़ कहा ही जाएगा । कोई कोल्हू में बालू भर भर कर बैलों को जोतकर पेले तो क्या विवेकीजन उसमें आस्था रख सकते हैं ? तालाबों में से कमल तोड़कर अथवा कमलगट्टे के बीज लेकर कोई पहाड़ों पर बिखेरे कि यहां खूब सारे कमल के फूल हो जायेंगे तो क्या कोई उसे विवेकी कहेगा ? यों ही समझो कि संसार के अनन्त जीवों को गैर मानकर दो चार जीवों को श्रद्धा में अपना मान लें तो ऐसी मान्यता करने वाले को क्या बुद्धिमान कहा जाएगा ?

अतीत त्रुटियों के सुधार का यत्न – भैया ! व्यवस्था की बात अलग है और श्रद्धा की बात अलग है । व्यवस्था तो गले पड़े बजाय सरे जैसी बात है । नहीं है इतना आत्मबल कि सबकी अपेक्षा त्याग कर केवल ब्रह्मस्वरूप से ही अपना वास्ता रखें । क्या पड़ा है प्रयोजन ? अपने आपमें स्वयं ज्ञान और आनन्द भरा हुआ है । स्वभावतः क्लेशों का यहां नाम नहीं है। शुद्धनय से देखो अथवा जब शुद्ध विकास हो जाता है, तब स्थिति से देखो तो यह धर्मादिक द्रव्यों की तरह अपने ही गुणों के परिणमन से शुद्ध अर्थपर्यायरूप परिणमता रहता है । इसे क्लेश कहां है ? परन्तु जहां पर भी अपनी स्वभावदृष्टि को तजा और बाहर में दृष्टि लगायी कि क्लेश ही क्लेश हो जाते हैं । जो पुरुष यह विश्वास रखते हैं कि ये घर के लोग, स्त्री पुत्र मेरे हैं, वे मिथ्या आशय वाले हैं ।

उनके हृदय में धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता है । अपनी व्यतीत हुई गल्तियों का बढ़ाना अच्छा नहीं है । अपनी गलतियों का सुधार करने में भला है।

ज्ञानी की श्रद्धा – यहां श्रद्धा की बात कही जा रही है । प्रत्येक पुरुष अपने चित्त मंत्री से पूछ सकता है । जान सकता है कि मैं परपदार्थ के प्रति उनको अपना मानने की श्रद्धा रख रहा हूं या नहीं ? इसका अन्य किसी से फैसला नहीं हो सकता और जो अंतरंग में परजीवों के प्रति ऐसा विश्वास बनाये रखते हैं उनको अनाकुलता की प्राप्ति नहीं हो सकती । कैसे प्राप्ति हो ? परदृष्टि का भाव ही आकुलता को लिए हुए है । ज्ञानी पुरुष ने देह में और आत्मा में ही भेदविज्ञान किया है । वह देह की स्थिति से उस प्रकार अपने को नहीं मानता है । ऐसे शुद्ध स्वच्छ आशय वाले ज्ञानस्वभाव का जिसने उपयोग द्वारा अनुभव पद्धति में दर्शन किया है वह पुरुष देह की स्थिति से अपनी स्थिति नहीं मानता है । देह हो जाय मोटा तो यह ज्ञानी अपने आपको घन अथवा मोटा नहीं मानता है ।

द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की देह से विविक्तता – ज्ञानी को यह दृढ़तम विश्वास है कि मैं अपने द्रव्य से अपने गुणपर्यायरूप हूं । यह शरीर एक तो पुद्‌गलद्रव्य हैं ही नहीं, पुद्‌गल द्रव्य का समूहरूप एक पिण्ड है, जो उपचार से पुद्‌गल कहा जाता है । यह अनेक द्रव्यों का पिण्ड है और फिर यह देह, यह पुद्‌गल अपने द्रव्य से अपने ही गुणपर्यायरूप है । यह मैं आत्मा क्षेत्रदृष्टि से अपने ही प्रदेश में रहने वाला हूं और यह शरीर क्षेत्रदृष्टि से देह के अपने आपके ही प्रदेश में रहने वाला है, यह सब भेदविज्ञान की बात है । जिसे भेद विज्ञान हो गया है उसे थोड़ी सी ही दृष्टि में भेददर्शन की तैयारी के ही संकल्प में यह भेद दिख जाता है और जिसे इसका दर्शन नहीं हुआ है, इस देह से विविक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व के वह अगल बगल यहां वहां धर्म की खोज करता है, हैरान हो जाता है, पर धर्म की प्राप्ति नहीं होती है ।

काल और भाव की दृष्टि से आत्मा की देह से विविक्तता – यह मैं आत्मा कालदृष्टि से अपने ही पर्याय का सृजन करने वाला हूं, अपने ही पर्यायरूप था, अपने ही पर्यायरूप हूं, अपने ही पर्यायरूप रहूंगा । यह देह यद्यपि मेरे एक क्षेत्र में अवगाहित है । जहां मैं हूं वहीं देह है । मेरी क्रिया हो तो देह की क्रिया साथ है, देह की क्रिया हो तो मेरी क्रिया साथ है । ऐसा घनिष्ट संसर्ग होने पर भी यह मैं आत्मा अपने ही पर्यायों से परिणमता हूं और यह शरीर अपने ही पर्यायों से परिणमता है । कालदृष्टि से भी मैं इस शरीर से अत्यन्त विविक्त हूं, भावदृष्टि से, गुणों की अपेक्षा से यह मैं आत्मा अपने आप में ही तन्मय शाश्वत शक्तियोंरूप हूं, चैतन्यशक्तिरूप हूं

और यह देह अपने आपकी जाति का उल्लंघन न करता हुआ अपने आपकी शक्तिरूप है । यों यह मैं आत्मा इस शरीर से अत्यन्त न्यारा हूं ।

आत्मपुष्टि का पुष्ट उपाय – देह से भिन्न निजस्वरूपास्तित्वमात्र ज्ञानानन्दस्वरूप की जिसने प्रतीति की है, ऐसे पुरुष को आत्मतत्त्व अपने यथार्थज्ञान की खुराक से पुष्ट नजर आता है और जहां जितना कुछ ज्ञात रहता है उतना इसमें पुष्ट नजर आता है । किन्तु शरीर के किसी भी प्रकार के संसर्ग से यह पुष्ट और अपुष्ट अपने को नहीं मानता है । देह कैसा ही हो, मोटा हो, पतला हो, व्याधियुक्त हो, प्रत्येक स्थिति में अपने आपके आत्मतत्त्व को इस देह से रहित निरखिये । जब देह से भी भिन्न अपने आपको मैं देखूंगा तो अन्य पदार्थों से मिला हुआ तो देख ही क्या सकूँगा, ऐसे परमविविक्त चित्स्वभावमय अपने आपको यह अन्तरात्मा जानता है, वह देह में पुष्ट होने से अपने आत्मा को पुष्ट नहीं मानता है । यों यह अन्तरात्मा ऐसे विशद देह से भेदाभ्यास करके अपने आपको मोक्ष मार्ग की ओर उन्मुख करता है, यह उपाय शांति का है । शान्तस्वरूप अपने आत्मतत्त्व के दर्शन करना यही उत्कृष्ट पुरुषार्थ है ।

श्लोक 64

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं जीर्णं मन्यते तथा।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः॥६४॥

जीर्ण देह में भी विविक्त ब्रह्मस्वरूप का प्रदर्शन – जैसे वस्त्र के जीर्ण हो जाने पर कोई पुरुष अपने को जीर्ण नहीं मानता है इसी प्रकार अपने देह के जीर्ण हो जाने पर भी यह ज्ञानी अन्तरात्मा अपने आत्मा को जीर्ण नहीं समझता है । जीर्ण का अर्थ है कमजोर होना, बोदा होना या कुछ फट सा जाना । यदि वस्त्र प्राचीन हो गया है और जीर्ण हो गया है तो फटे कपड़े को पहिने हुए कोई पुरुष क्या ऐसा सोचता है कि मैं फट गया हूं ? सम्भव है कोई ऐसा भी व्यामोही होगा कि कपड़े की दशा को देखकर अपने को भी उसी प्रकार दुर्गत समझ लेता हो ? होगा कोई ऐसा कहने वाला फिर भी वह भीतर में जानता ही होगा कि यह कपड़ा है और यह मैं अलग हूं । यहां मैं से मतलब इस देह से है क्योंकि श्लोक के पूर्वार्द्ध में अज्ञानियों को समझाने के लिए प्रयत्न होने से अज्ञानी की चर्चा की गई है । अज्ञानी भी फटे कपड़े पहिनने पर अपने को फटा नहीं मानता है ।

अज्ञानियों की किसी विविक्तता के दृष्टान्त से विविक्तता का पोषण – भैया ! कोई आवेश में भले ही वस्त्र की दुर्गति से अपनी दुर्गति कह दे । जैसे एक बाबू ने कोट बनवाया । दर्जी की ही दुकान पर उस कोट को पहिना । पहिनकर देखा कि ठीक है कि नहीं ? दृष्टि गयी कि कंधे के पास सिकुड़न बन रही है । वह मिटती ही नहीं है तो उस सिकुड़न को देखकर बाबू साहब कह बैठते हैं कि इसने तो मेरा नाश कर दिया । जरा सी कोट में सिकुड़न आयी और इस शब्द से भी पुकार देते हैं कि इसने हमारा नाश कर दिया । और कुछ अपने पर मेहरबान हुए तो कह देते हैं कि हमारे कपड़े का नाश कर दिया । पर ऐसा कहने पर भी अन्तर में यह समझ बनी भई है कि मेरा नाश नहीं हो गया, मैं जीर्ण नहीं हो गया । ऐसे ही ज्ञानी पुरुष देह के जीर्ण हो जाने पर भी अपने को जीर्ण नहीं समझते हैं ।

देह की जीर्णता होने पर भी ज्ञानी के आत्मतत्त्व की पुष्टि – बुढ़ापा हो गया, यह जीर्ण ही तो शरीर हो गया । जरा बुढ़ापे का नाम है और जरा से जो ग्रस्त है, उसका नाम जीर्ण हो गया। जिसके देह में और इस आत्मा में एकत्वबुद्धि है, वे ऐसा नहीं समझ पाते हैं कि यह शरीर ही बूढ़ा हुआ है । इस शरीर की ही यह दशा हुई है । मैं तो सदा अपने स्वरूपमात्र सदा जवान रहता हूं अर्थात् अपने स्वरूपमय रहा करता हूं – ऐसा अज्ञानी नहीं सोच पाता है ज्ञानी पुरुष वृद्ध हो जाने पर भी अपने अन्दर की चेतना को निरखते हैं । उन्हें विशद बोध है कि मैं बूढ़ा नहीं हो गया हूं । न चलें हाथ पैर तो न सही, न उठ सकें खाट पर से तो न सही, स्वयं ही करवट नहीं बदल सकते न सही, बुढ़ापे का बहुत प्रकोप आ गया है, इतने पर भी यह ज्ञानी अपने अन्तर में जानता है कि यह इस शरीर की दशा है, मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र इस देह की दशा से विविक्त हूं और सदा ही पुष्ट हूं ।

बुढ़ापे में ज्ञानी के ज्ञानप्रकाश की बुद्धि – जो ज्ञानी संत पुरुष अपने सारे जीवन में व्रत, तप, संयम की साधना करते हैं, वे भी तो बूढ़े होते हैं ना । उनका ज्ञान पुष्ट है और ज्यों ज्यों बुढ़ापा उनके खाते में आता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान जवान होता जाता है, क्योंकि अनुभव, भेदविज्ञान बढ़ा चढ़ा है और जब असार अवस्था होने लगती है, तब वैराग्य बढ़ने लगता है और जब मरणकाल जान लिया तो वहां ही सब राग छूटने का मौका आ जाता है । ऐसा ज्ञानीसंत बुढ़ापे में और जवान होता है । ज्ञान की अपेक्षा प्रबल बलवान् पुष्ट होता है और शरीर को जीर्ण हुआ जान रहा है । ज्ञानी जीर्ण देह से भी अपने आत्मा को जीर्ण नहीं समझता है ।

शरीर की जीर्णता के कारण – शरीर के जीर्ण होने के दो कारण हैं । एक तो सामान्यतया पुद्गल के नाते का कारण है । कोई भी पुद्गल हो, बहुत समय की स्थिति के बाद पुराना पड़

जाता है, कमजोर हो जाता है । जिसमें अब जीव का सम्बन्ध नहीं रहा है, वह स्कन्ध में काठ, पत्थर, लोहा ये सभी समय गुजरने के बाद कमजोर हो जाते हैं । लोहा जैसा पुष्ट पदार्थ भी बहुत समय गुजरने के बाद कमजोर पड़ जाता है । सभी पदार्थ समय गुजरने पर जीर्ण हो जाते हैं । एक तो इस पुद्गल के सामान्य नाते से यह शरीर भी जीर्ण हो जाता है, पर एक और विशेष कारण लगा हुआ है कि इस भव की आयु की स्थिति है । सो जैसे मनुष्य और तिर्यंचों में आयु ऊँचे से आगे बढ़ने लगती है तो उसका भी सहयोग ऐसा होता है कि यह शरीर ऐसी वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है । उस समय आहारवर्गणावों के प्रकरण का आना तो रहता है, मगर उनका संकलन संग्रहण अंगीकरण अपेक्षाकृत पहिले से कम हो जाता है और यह शरीर, यह चाम अपनी अस्थियों के स्थान को कम ग्रहण करता है, जगड़ने सा लगता है । ऐसी जीर्ण स्थिति होना आत्मा का काम नहीं है ।

आत्मा तो ज्ञानबल से पुष्ट है और ज्ञानबल न हो तो अपुष्ट है, आकुलित है, विह्वल है, गरीब है । ज्ञानीपुरुष अपनी ओर बढ़ती हुई उम्र में और वृद्धावस्था में अन्तर प्रबल होता है, बलवान् होता है, उसका ज्ञान पुष्ट हो जाता है ।

भेदाभ्यास के प्रकरण में भेदाभ्यास का अन्तिम अवस्था में भी समर्थन – यहां यह प्रकरण चल रहा था कि जब यह जीव शरीर, वचन और मन को आत्मबुद्धि से ग्रहण करता है, तब इसका जन्म मरण बढ़ता जाता है और जब इस शरीर से अपने आत्मा को भिन्न निरखता है और ऐसा भेदज्ञान का अभ्यास प्रबल हो जाता है तो इस मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है । उसी भेद विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ विस्तार बनाने के लिए स्वतन्त्ररूप से ये श्लोक कहे जा रहे हैं और लौकिकजनों को समझाना है, इस कारण ये लौकिकजन जैसे उस भेदविज्ञान की बात शीघ्र समझ सकें, उन लोकों की घटनाओं को बताकर कहा जा रहा है कि देखो पहिने हुए वस्त्र जीर्ण हो जाने पर, फट जाने पर कोई अपने को फटा हुआ नहीं मानता है ।

लोग अच्छा भी वस्त्र पहिनते हैं और पहिनी हुई हालत में कहीं कील छिद गई, कांटा छिद गया तो थोड़ा जीर्ण हो जाता है, फट जाता है – ऐसी स्थिति में वह पुरुष यह सोचे कि मैं फट गया हूं तो ऐसे सोचने वाले को आप पागल ही कहेंगे । जैसे उसे इस पहिने हुए वस्त्र से भी अपने आपके न्यारेपन की श्रद्धा है, चाहे माना उसने देह को ही आत्मा, आत्मा को आत्मा नहीं माना, पर उस वस्त्र को तो न्यारा माना ना अपने से । ऐसे ही ज्ञानीपुरुष इस शरीर के जीर्ण होने पर, सड़ने पर अपने आपको सड़ा और जीर्ण नहीं मानता है ।

सन्मार्ग का परिणाम – भैया ! पूर्वकाल में एक ऐसे मुनिराज हुए हैं, जिन्हें मुनि अवस्था में विशेष रोग हो गया, कोढ़ भी हो सकता है, अन्य व्याधियां भी हो सकती हैं—ऐसी स्थिति में भी उन्होंने अपने को कोढ़ी रोगी अनुभव नहीं किया । अपने को ज्ञानानन्दमात्र देखा और अनुभवा । उस ही प्रताप से उन्हें केवलज्ञान हुआ और जैसे केवलज्ञान हुआ तो वह रोगी जीर्ण शरीर एकदम परमौदारिक हो गया और पुष्ट बन गया । ज्ञानी पुरुष इस देह के जीर्ण होने पर भी अपने को जीर्ण नहीं समझते अथवा जैसे पहिले श्लोक में यह बताया गया था कि देह के मोटा हो जाने पर भी अपने को मोटा न समझना, घन न समझना, ऐसे ही उसी कथन के निकट उसके प्रतिपक्ष में कह रहे हैं कि देह के दुर्बल हो जाने से अपने को कहीं दुबला नहीं मान लेना । अरे इस आत्मतत्त्व के अनुभव के समय तो शरीर की याद भी नहीं रहती है । क्या है शरीर, हैं भी शरीर ? इस ओर उसकी दृष्टि भी नहीं रहती है । वह तो अपने शुद्ध ज्ञानप्रकाश को ही निरखता है । ऐसा ज्ञानीपुरुष इस देह को स्वबुद्धि से ग्रहण नहीं करता है ।

अज्ञानी का मिथ्या अभेदाभ्यास – अज्ञानी पुरुष इस देह में और इस जीव में ऐसी एकत्वबुद्धि किए हुए है कि वह इस रूप में ग्रहण नहीं कर रहा है कि यह जो देह है, सो मैं हूं, यों अनुभव नहीं कर रहा है । उसे कहां खबर है कि मैं कुछ और हूं, देह कुछ और है । जो दो कर्ता के रूप में वाक्य बनाए, यह और मैं हूं । यह जो देह है, सो मैं हूं – ऐसे वाक्य में भी कर्ता में अभेदभाव नहीं आ सकता है । उसकी तो शरीर में ऐसी बुद्धि है, जैसे कोई एक गोल घड़ा हो तो उसे लोग कहते हैं कि इस घड़े की गोलाई बहुत ही अच्छी है अथवा इस घड़े में गोल आकार है । भले ही कहते जावो कितनी बातें, पर गोल आकार और घड़ा ये क्या न्यारी न्यारी चीजें हैं ? गोल आकार आदि रूप में परिणत यह पदार्थ ही घड़ा है । जैसे यहां घड़े में और घड़े के उस संस्थान में भेद नहीं है, बस वह तो वैसा है, जैसा है । जैसा है, वैसा वर्णन करने में भेद आता है, पर वह घट तो घट ही है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव इस देह में यह मैं आत्मा हूं – ऐसा अनुभव नहीं करता, किन्तु मैं हूं । मैं शब्द का यहां उस चित्स्वभाव से अर्थ न लेना, यह अज्ञानी की "मैं" है । जो यह मायामयरूप देहपिण्ड है, उसको ही यह अज्ञानी मैं मान रहा है । वह तो इस देह और मैं में अपनी एकत्वबुद्धि बनाए हैं । उसे यह होस नहीं है कि यह जो देह है, सो मैं हूं । उसकी दृष्टि में यह देह न्यारा कहां है, जो यह मैं को विलग कर सके ।

अज्ञानी में भेदाभ्यास की अबुद्धि – कोई पुरुष कहीं यह का प्रयोग करे तो वह अन्य जगहों में करेगा । आपने शब्दशास्त्र में पढ़ा ही है कि पुरुष तीन होते हैं – अन्यपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तम पुरुष या थर्ड परसन, सेकेण्ड परसन और फस्ट परसन । अब उत्तमपुरुषीय कर्ता के रूप में उपस्थित हुआ, कोई यदि कदाचित् कहीं अन्यपुरुष को कर्ता बोल दे तो उसका अर्थ यह ही

तो हुआ कि वह समझ रहा है कि ये भिन्न भिन्न दो बातें हैं । मैं मैं हूं, यह यह है। फिर माना कि यह मैं हूं । तो फिर इस मान्यता का क्या उठेगा ? पहिले तो उसने भेद डाल दिया। यह तो अज्ञानी के व्यवहार के बारे में ज्ञान की भाषा है, अज्ञानी की भाषा नहीं है । यह शरीर मैं हूं – ऐसा अनुभव अज्ञानी नहीं करता है, किन्तु मैं हूं । शरीर को ही देख करके मैं हूं – ऐसा अनुभव करता है ।

अज्ञानी के क्लेशमय अनुभवन – भैया ! जीव और देह के अभेदानुभव के कारण वह अज्ञानी शरीर के जीर्ण होने पर क्लेश मानता है कि मैं बूढ़ा हो गया हूं, ओह चल फिर नहीं सकता हूं। अरे, ज्ञानी यह जानता है कि मैं चल फिर नहीं सकता तो न सही । एक चलने फिरने के व्यर्थ के व्यायाम से बच गया । आंखों से नहीं दिखता है, नहीं दिखता है न सही न देखे, न भोंके । अरे कुछ न देखा और न कुछ रागद्वेष किया । ठीक है, यह भी अच्छा है, पर अज्ञानी तो घबड़ा जाता है । अब मैं चल फिर ही नहीं सकता, क्या करूँ ? अब मुझे कुछ सूझता ही नहीं क्या करूँ ? वह तो अज्ञानी इस देह को ही आत्मसर्वस्व समझता है । वृद्धावस्था में बहुत से लोग ऐसी भी हैरानी मान लेते हैं । क्या करें ? भूख कम हो गई है, मन्दाग्नि हो गई, क्लेश मानते हैं, क्योंकि इच्छा तो है बहुत खाने की और मन्दाग्नि हो गई, सो अधिक खा सकते नहीं । इसका भी बड़ा क्लेश है और केवल खाने का ही नहीं । पांचों इन्द्रियों के विषयों को भोगने की भी यही बात है । पांचों विषयों को भोगने में अब यह समर्थ नहीं रहा, अब नहीं सुनाई देता है । चाहते यह हैं कि मैं राग का संगीत का भली बात का मौज पाऊँ । आंखों नहीं दिखता । चाहते यह हैं कि मैं सुन्दर रूप को खूब आँख भर निहारूँ । भोगना चाहते हैं पर भोग नहीं सकते हैं । इसका क्लेश इस अज्ञानी बूढ़े को बढ़ जाता है ।

ज्ञानी की प्रगतिशीलता – ज्ञानी वृद्ध पुरुष को एक ज्ञान की ही प्रबल दिशा मिलती है, वैराग्य बढ़ता है । बाह्यवस्तुओं से उपेक्षा हो जाती है । वह अपने आपमें ज्ञानानुभव ज्ञानप्रकाश अधिकाधिक प्राप्त करता है । बहुत उम्र बीतने के बाद जो बुद्धि प्रस्फुटित होती है वह बुद्धि छोटी अवस्था में होना कुछ कठिन है । इसीलिए वृद्ध पुरुषों का, बड़ों का, बुजुर्गों का सम्मान रहता है । जो युक्ति, जो बात बालक और जवान नहीं समझ सकते हैं उसे वृद्ध पुरुष जानते हैं क्योंकि उनका सारे जीवन का अनुभव है । यों ही समझो ज्ञानी पुरुष जितना विशुद्ध ज्ञान रख सकता है वह बुढ़ापे में और अधिक रख सकता है ।

ढोंकी सूझ – लोक में एक ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि एक बार लड़की वाले ने लड़के वाले से यह कह दिया विवाह के समय कि हमारी बरात में बूढ़ा कोई न आये । अब लड़के वाला सोचता है

कि बूढ़ों को मना क्यों किया ? कोई इसमें तथ्य है । सो एक काठ की संदुकिया लाया और उसमें दो चार छेद करके एक बूढ़े को उसके अन्दर बैठाल दिया । जहां तमाम संदूक साथ में है वहां एक और संदूक साथ में हो गया । लड़की वाले ने क्या किया कि बरात को छकाने के लिए, मजाक करने के लिए जितने बराती थे मानो २५ थे तो २५ गुड़ की भेली डेढ़ डेढ़ सेर की रख दी और उन सब बरातियों से कहा कि नाश्ते में आप सबको एक-एक भेली खानी होगी । अब आप सोचो कि इतनी बड़ी-बड़ी भेली कैसे खायी जा सकेगी ? तो उनमें दो आदमी पहुंचे, संदूक खोल अलग में पूछा कि ऐसी **मौत** सामने आ गयी है क्या करना चाहिए ? तो उस बूढ़े ने सलाह दी कि सब लोग उछल कूद कर, नाच कूद कर एक दूसरे से छीन-छीनकर भिन्न-भिन्न भेली से तोड़ तोड़ कर खाना शुरू करो तो सारा गुड़ खा लिया जायेगा । उन सबने वैसा ही किया । सबने एक दूसरे से छिन-छिन कर प्रत्येक भेली में से निकाल निकाल कर खाया, यों उछल कूदकर सारी भेलियां खा डाली ।

ज्ञान की विशदता – लोग कहते हैं कि बूढ़ा सठिया जाता है या बुद्धि कम हो जाती है यह बात झूठ है । यह बात उनके लिए ही सत्य है जो विषयों में आसक्त हैं, परिग्रहों में लीन हैं उनकी बुद्धि कम हो जाती है, पर जिनको ज्ञान स्वभाव से ही रुचि है उनकी बुद्धि में तो यह ज्ञानप्रकाश और विशद हो जाता है । ज्ञानी पुरुष जीर्ण देह में भी अपने को जीर्ण नहीं मानता है ।

श्लोक 65

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।

नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुध:॥६५॥

पुन: दृष्टान्तपूर्वक आत्मा की देह से विविक्तता का समर्थन – जैसे कोई भी पुरुष वस्त्र के नष्ट हो जाने पर अपने आपको नष्ट हुआ नहीं मानता है, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपने देह के नष्ट हो जाने पर भी अपने आपके आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता है । वस्त्र जल जाय, फट जाय, किसी प्रकार नष्ट हो जाय तो उस कमीज कोट आदि के नष्ट हो जाने पर कोई यह तो नहीं मानता की मैं नष्ट हो गया हूं । यह लौकिक पुरुषों का दृष्टान्त दिया है क्योंकि उन्हीं लोगों को समझाना है । इसी तरह अपना देह नष्ट हो जाय तो वहां भी ज्ञानी आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता है ।

नाश का भाव – नाश का मतलब यहां सर्वथा नाश से नहीं है क्योंकि जो पदार्थ सत् है उसका सर्वथा नाश कभी नहीं होता, अवस्थाएँ बदलती हैं । शरीर का नाश क्या है ? शरीर का आत्मा

से अत्यन्त पृथक हो जाना यही शरीर का नाश कहलाता है । शरीर तो पीछे जलता है, जब आत्मा शरीर से निकल जाता है अथवा कोई उपद्रवी शरीर को जिन्दा ही जला दे वह सब नाश में शामिल है । शरीर से आत्मा के अलग होने का नाम नाश है, फिर यह शरीर किसी भी अवस्था को प्राप्त हो, चाहे गढ़े, चाहे जले, चाहे यों ही छिन्नभिन्न हो जाय वह सब नाश ही है । अर्थात् जब यह जीव मरण कर रहा है, एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जा रहा है तो वहां यह पुरुष अपने को नष्ट हुआ नहीं मानता है ।

भिन्न की प्रीति कैसे – भैया ! जब इस देह से भी हमारी प्रीति नहीं निभ पाती है, देह को छोड़कर चला ही जाना पड़ता है तब अन्य वस्तुवों की प्रीति की क्या आशा रखना ? इस जगत् में कुछ भी निदान बांधना, कुछ भी आशा लगाना केवल क्लेश के लिए ही है । बड़े-बड़े पुरुष भी पापोदय आ जाने पर पददलित हो जाते हैं । जो भी समागम है उस समागम के स्नेह में आत्मा को किसी भी प्रकार का लाभ मिलता हो तो बताइये । अपने आपमें देख लीजिए, आत्मा को क्या लाभ मिलता है ? चिंताएं, शोक, आकुलता, भय, शंकाएँ, उपद्रव परवस्तुओं के स्नेह होने पर आ खड़े होते हैं । जब देह ही अपना बनकर नहीं रह सकता तो अन्य की क्या आशा की जाय ? मोही मोहियों में ही ऐसा कहा करते हैं कि हमारी तुम्हारी अति गाढ़ी मित्रता है और और भी प्रेमलाप में जो कुछ भी हृदय की बात कह सकते हैं कह लेते हैं, पर वास्तविकता यह है कि कोई मनुष्य किसी दूसरे से प्रीति कर ही नहीं सकता है । अपने आपमें कषाय जगी और उस ही विषय में अपने आपको रंग लिया जाता है, उससे वेदना होती है । यह किसी दूसरे में कुछ कर ही नहीं सकता है ।

शरीर और आत्मा का परस्पर अत्यन्ताभाव – शरीर एक भिन्न पदार्थ है, आत्मा भिन्न पदार्थ है । आत्मा तो एक ही पदार्थ है और यह शरीर अनन्त परमाणुवों का पिण्ड है । आत्मा में जो परिणमन है वह किसी भी परमाणु में नहीं है और इस देह के परमाणुवों में किसी भी एक परमाणु का जो परिणमन है वह अन्य पदार्थ में नहीं है । ऐसी सर्वपदार्थों की स्वतंत्र स्वतंत्र परिणति चल रही है । वे समस्त पदार्थ अपने-अपने समय पर अपनी-अपनी नवीन अवस्था उत्पन्न करते हैं और पुरानी अवस्था का व्यय करते हैं । इसमें कौन सी आत्मा के विनाश की बात है, परन्तु दूसरे पदार्थ में यह मेरा है, यह मैं हूं, ऐसा मान लिया तब उस अन्य पदार्थ के व्यय होने पर वियोग होने पर इसे क्लेश उत्पन्न होता है और यह सोच बैठता है कि मेरा सर्वस्व नाश हो गया । जैसे लोग कहा करते हैं कि आज इतने पैसे बरबाद हो गए, नष्ट हो गए । अरे कहां नष्ट हो गए ? जहां हैं वहां होंगे । चोरी हो गयी तो कहते हैं कि बरबादी हो गयी । अरे कहां बरबादी हो गयी ? वह धन यहां नहीं है तो कहीं अन्यत्र है, सुरक्षित है, उसका विनाश नहीं

हुआ । हां वह इसके समीप नहीं है तो किसी दूसरे के समीप पहुंच गया ।

परमार्थत: विनाश का अभाव – भैया ! इसके समीप यह सब नटखट पहिले भी न था, पहिले भी इससे अलग था । परंतु जब घर में रखे हुए ढेर को देख-देखकर यह कल्पना किया करता था कि यह मेरा धन है, अब उस धन के चले जाने पर इस कल्पना का समय नहीं रहा, क्योंकि सामने नहीं है, इसलिए बरबादी कहते हैं । चीज तो जहां की तहां है । हमारे मन के अनुकूल बात नहीं होती है तो उसे बरबादी कहते हैं और जब मन के अनुकूल बात हो गयी तो उसे आबादी कहते हैं । कितनी सीधी सी बात है । वस्त्र नष्ट हो गया तो कौन मानता है कि मैं नष्ट हो गया हूं । वस्त्र जुदा पदार्थ है और यह मनुष्य जुदा पदार्थ है । इसी प्रकार से यह ज्ञानी जानता है इस राज को कि यह देह अलग हो रहा है तो क्या हो गया ? देह में देह है, मुझमें मैं हूं, इससे मेरा विनाश कहां है । ज्ञानी पुरुष ऐसी स्थिति में अपना विनाश नहीं समझता है । ऐसे ही एक दृष्टांत द्वारा इस विषय की अंतिम बात भी कह रहे हैं ।

श्लोक 66

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुध:॥६६॥

पुन: दृष्टान्तपूर्वक आत्मा की विविक्तता उपसंहार – जैसे वस्त्र लाल रंग में रंग लेने से कोई यह नहीं मानता कि मैं लाल हो गया हूं । किसी भी प्रकार का रंगीला कपड़ा पहिन लेने हर पुरुष क्या यह विश्वास करने लगता है कि मैं इस रंग का हूं ? नहीं करता । इसी तरह इस शरीर के भी लाल होने पर या किसी भी तरह के रूप होने पर यह अपने को अर्थात् जीव को लाल नहीं मानता है ।

देह में रूप की उपपत्तिविषयक जिज्ञासा व समाधान – भैया, पुद्गल में रूप हुआ करता है, इस नाते से भी इस शरीर में रूप हुआ करता है, पर साथ ही रूपनामक नामकर्म का उदय होने से भी रूप हुआ करता है । जिस किसी भी प्रकार का रूपनामक नामकर्म का उदय हो और हो गया रूप, पर रूप का आधार जीवन ही है, रूप का आधार पुद्गल ही है, क्योंकि पुद्गल ही रूप होता है । यह एक करणानुयोग विषयक जिज्ञासा हो सकती है कि जब पुद्गल का स्वभाव ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाला होता है तो फिर शरीर के रूप होने के लिए रूप नामक नामकर्म की क्या आवश्यकता है ? शरीर नामक नामकर्म से शरीर मिल गया तो शरीर पुद्गल के नाते से रूप वाला तो हुआ ही करेगा । फिर रूपनामक नामकर्म ने क्या किया ? इसी प्रकार रस,

गन्ध, स्पर्श नामक भी नामकर्म है । उस नामकर्म ने भी क्या किया ? चूंकि शरीर पुद्गल है और पुद्गल में ये चार स्वभाव होते हैं, सो हुआ ही करेंगे । कौन सी विशेषता उन कर्मों से हुई ? इस जिज्ञासा का समाधान यह है कि पुद्गल के कारण रूप रस आदिक होते तो वे सब अटपट जैसे चाहे होते, किन्तु भव भव में, रूप आदिक सदृश जाति में प्रतिनियत होता है, इसका कारण यह कर्मोदय है ।

जैसे कई चींटियां हैं । चींटियों में उस तरह का रूप होगा, वह प्रतिनियत होगा । जो सब चींटियों में उस तरह का रूप पाया जाएगा, यह नियम नामकर्म के उदय से होता है । पुद्गल के नाते इस तरह का नियम नहीं आ सकता है । जितने घोड़े हैं, उन घोड़ों के शरीर में उन जैसा रूप, उन जैसा रंग, उन जैसा गन्ध हुआ करता है । मनुष्यों में मनुष्यों जैसा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श हुआ करता है । ऐसा जो प्रतिनियम है, वह उस नामकर्म के उदय से बनता है ।

आत्मविषयक विविध मान्यताओं की विडम्बना का कारण – कैसा ही हो जाए शरीर ? लाल हो गया शरीर तो ज्ञानी अपने को लाल नहीं मान लेता । सांवला हो गया शरीर, किसी भी रंग का मिला शरीर तो ज्ञानी पुरुष अपने को उस रंग वाला नहीं मानता है । अज्ञानी ही ऐसी कल्पना करता है कि मैं गोरा हूं, काला हूं, सांवला हूं, गेहुंवां हूं – ये नाना प्रकार की कल्पनाएँ अज्ञानियों में होती हैं । जो देह और जीव को एकरूप मान रहे हैं, वे याने देह जीव को एक गिने – ऐसे बहिरात्मा पुरुष अपने को रंगीला माना करते हैं । जिसकी मूल में ऐसी व्यामोह बुद्धि है कि अपने आपको अमूर्त चैतन्यस्वरूप न मानकर जिस पर्याय में पहुंचा, उस देह रूप ही अपने को मानने लगता है । उसकी इस मूलभित्ति पर फिर और मिथ्या कल्पनाएँ चलने लगती हैं, यह शरीर सुहावना लगने लगता है और रूप रंग में भी भेद डालने लगता है, यह रूप सुरूप है, यह रूप कुरूप है – ऐसा भेद डालने लगता है । फिर उनमें रागद्वेष की प्रवृत्ति होने लगती है । इन सब विडम्बनाओं का मूल कारण देह में और जीव में अभेदाभ्यास कर लेना है ।

देह की अपवित्रता व वीभत्सता – कितना अपवित्र है यह शरीर ? हम आपके भीतर से लेकर बाहर तक मल ही मल भरा है । रोम, चमड़ी, मज्जा, मांस, हड्डी सब अन्दर से लेकर बाहर तक सब मल का पुतला है और यह शरीर घिनावना मल केवल एक पतली चादर से मढ़ा हुआ है । कितना असार यह देह है, पर पर्याय व्यामोही इस देह के रूपादिक पर मुग्ध होकर इन सब तथ्यों को भूल जाता है । व्यामोही की बात उस व्यामोही में ही है ।

कौन सा अन्तर ऐसा आ जाता है ? मैं लाल हूं, सफेद हूं, सांवला हूं – यह अन्तर पड़ा हुआ है । अरे यह सारा देह असार है, घिनावना है, अपवित्र है । जिसके मन में विषयकषायों का चोर पड़ा हुआ है, वह सुहावने और असुहावने की छटनी कर लेता है । इस घिनावने शरीर में पतले चाम की चादर मढ़ी हुई है । जरा इसके अन्दर के नक्शे को देखो तो क्या ये सूरतें उस रूप में नजर आयेंगी, जैसी कि मरघटों में खाली खोपड़ियां होती हैं ? वे कितनी भयंकर दिखती हैं । कैसे आंख के गड्ढे, चपटी नाक बनी है, कैसे दांत निकले हैं । ऐसी खोपड़ी तो सभी की है । इस पर पतले चाम की चादर मढ़ी है । इस ओर अज्ञानी की दृष्टि नहीं पहुंचती है ।

अमूर्त आत्मा में व्यर्थ की विराधना – भैया ! इतना ही हो जाए कि अपने विषयसाधनों के लिए कुछ सुहा गया, तब भी कुछ गनीमत हो, किन्तु यह तो इन सब जीवों में अपने रिश्ते और परिजन सम्बन्धी भाव बनाता है कि ये सब मेरे हैं । अरे शरीर तक तो मेरा है नहीं और श्रद्धा ऐसी बना ली है कि ये सब मेरे हैं । जैसे रंगे हुए वस्त्र से भिन्न ये पुरुष है – ऐसे ही रंगे हुए देह से भिन्न यह आत्मा है । देह के रंग की तो बात क्या कहें ? वह तो भिन्न है ही, पर भिन्न विभिन्न कषायों के भेद का निमित्त पाकर जो आत्मा में राग रंग चढ़ा हुआ है, रागद्वेष विभाव बने हुए हैं, उससे भी यह आत्मा न्यारा है । यह तो मात्र चिदानन्दस्वरूप ज्ञानप्रकाशमात्र अकाशवत् निर्लेप अमूर्त भावात्मक है, जो कभी भेदा भी नहीं जा सकता – ऐसा यह अमूर्ततत्त्व ज्ञानमात्र आत्मा है ।

अन्तस्तत्त्व का प्रसाद – बड़े महायोगीश्र्वर इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि रखा करते हैं । इसी से वे निर्जन जंगल, सघन वन के स्थान में भी अकेले रहकर सदा प्रसन्न रहा करते हैं। वास्तविक प्रसन्नता तो अपने आपके स्वरूप के मिलन में है । यह मायामय बाहरी मिलन वास्तविक प्रसन्नता उत्पन्न नहीं कर पाता है । यह मेरा रक्षक परमपिता पारमेश्वर्य सम्पन्न आत्मतत्त्व इस अपने आपका भला करने के लिए अनादिकाल से शाश्वत उद्यत है । लेकिन यह ही मैं उपयोग, मोह, ममता से मलिन हो इसकी ओर दृष्टि भी नहीं करता हूं । कभी यह उपयोग केवल दृष्टिभर तो कर ले, फिर तो प्रवाह की तरह बड़ी घन धाराओं में यह आनन्द परिणत होगा । इसके समस्त संकट टल जायेंगे ।

सावधान ! – वाह रे मोह की लीला कि जिससे विवश होकर ये जीव जो शाश्वत सहजआनन्दस्वरूप है, आनन्द देने वाला है, उस ओर तो दृष्टि भी नहीं करते और जिनका संगसमागम मिलना केवल आकुलता को उत्पन्न करने वाला है, उनकी ओर ये अपना उपयोग देते हैं । इस जीव योनी में, इन जीव कुलों में एक मनुष्यभव ही ऐसा उत्कृष्ट भव है कि जहां

श्रेष्ठ मन मिला है, कल्याण का उपाय कर सकते हैं । वहां भी यह जीव अपने को थका ले, विषयकषायों से मलिन कर ले तो फिर बतलावो कि किस काल में, किस भव में सुधरने का अवसर आयेगा और करना भी कुछ अटपट काम नहीं है, सीधा काम करना है । जो जैसा है उसको वैसा जानना भर है । इस यथार्थ ज्ञानकला पर हम आपका भविष्य निर्भर है । पर इतना ही न किया जाय तो फिर दूसरा मददगार कौन हो जायेगा ?

अर्न्तज्ञानप्रकाश तो ऐसे ही समझ लो कि शरीर से भी मैं जुदा हूं । जब घर ,शरीर भी मेरा नहीं है – सर्वमैं इन सबसे भी विविक्त हूं । जो आनन्द तो फिर ऐसा समझलो कि ,दा रूप भी मैं नहीं हूंसम्पसे विविक्त होने में है वह आनन्द किसी पर के ग्रहण में नहीं है । वह तो मोह का अंधेरा है और अन्तर में यह आकिश्चन्य भाव के ज्ञान का प्रकाश है । इस आनन्द को आत्मा ही उत्पन्न किया करता हैकिसी , गोरखधंधा , नहीं आता है । यहां बड़ा जाल हैन्द के कारण आनपरवस्तु हैरियों का फड़ है । जैसे ज्वा , ऐसे ही इस ,जीते तो नहीं उठ सकता ,ल पर बैठा हुआ पुरुष हारे तो नहीं उठ सकतारीयों के स्थज्वा का फल पाये तो जीते यहां से नहीं हट सकता है । इसी तरह पाप का फलमायामयी दुनिया में पुण्य हारे तो यहां से उठ नहीं सकता । इसी मो ,पायेह ममता में ही रहकर सड़कर इसे जीवन समाप्त करना पड़ता है। देखो देह से भी न्यारा अपने को तको । कैसी भी देह की अवस्था होफिर भी मैं देहरूप नहीं , करेगा ।न्नउत्प कोर में ज्ञानप्रकाश फैलकर सहज शुद्ध आनन्दऐसा अनुभव करे तो अन्त – हूं

श्लोक 67

यस्य सस्पन्दमाभाति नि:स्पन्देन समं जगत् ।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतर:॥६७॥

निस्पन्ददर्शन और शान्ति – ज्ञानी पुरुषों ने अपने आत्मतत्त्व को देह से विविक्त निरखा है । इस विविक्त अवलोकन के अभ्यास से इस ज्ञानी पुरुष को बाह्य जीवलोक में भी इन दृश्यमान् देहों से भिन्न चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व दृष्ट हुआ है तब उसे अन्तर में यह सब आत्मस्वरूप निस्पंद अचल ज्ञानस्वरूप प्रतीत होता है । यों जब जिस जीव को ये अनेक चेष्टाएँ करते हुए शरीरादिकरूप यह दृश्यमान् जगत् निश्चेष्ट काष्ठ पत्थर की तरह जड़वत् किन्तु क्रिया और सुख दु:ख आदि के दु:खों से रहित मालूम होने लगता है तब इस पुरुष के ऐसी परमशांति उत्पन्न होती है जिसमें न कोई हलन चलन है, न कोई भोग भोगना है, न अध्रुवता है, ऐसी उत्कृष्ट शांति उसे प्राप्त हो जाती है ।

सक्रिय व्यवहार जीवों में अक्रियाभोग का अवलोकन – आत्मप्रगति के लिए यह एक प्रयोग करने की चीज है । इन देहों से भिन्न आत्मतत्त्व को ऐसा ज्ञानप्रकाशमय चित्स्वभावरूप निरखना चाहिए कि फिर यह मालूम पड़ने लगे कि ये दृश्यमान शरीरादिक पुद्गलपिण्ड चल रहे हैं तो चलो किन्तु इनके अन्तर में विराजमान जो यह आत्मस्वरूप है वह तो अचल व निष्क्रिय है और कर्तृत्व भोक्तृत्व की तरंगों से रहित है । जब इस प्रकार यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप दिखने लगा तब समझना चाहिए कि अब यह मोक्षमार्ग में बहुत प्रगति कर रहा है । लोग तो जरा सी प्रतिकूल बात सुनकर अथवा कुछ मन के विरुद्ध चेष्टा निरखकर आकुलित हो जाते हैं किन्तु ज्ञानी उन चेष्टावों को देखकर क्या आकुलित होगा ? वह तो यहां यह देख रहा है कि यह क्रियावान पुद्गल पिण्ड अलग हैं और जो जाननहार है ऐसा जो तत्त्व है वह निश्चल है, काष्ठ पत्थर की तरह हिल डुल न सकने वाला, न कुछ भोग कर सकने वाला ऐसा शुद्ध ज्ञानप्रकाश स्वरूप है । यह अभ्यास इस प्रकार की दृष्टि का प्रयोग जिसके जितना बढ़ता जाय समझो वह शांति में उतना ही बढ़ता चला जा रहा है । हम कुछ देखें और देखने के साथ ही हमारी समझ में यह आये कि जो कुछ हिलडुल रहा है रूप, रस, गंध, स्पर्शवान स्कंध, वह हिल डुल रहा है किन्तु ज्ञाता दृष्टा जानन देखनहार जिससे हमारा प्रयोजन है वह तो निश्चेष्ट कर्तृत्वभोक्तृत्व की तरंग से रहित केवल चित्स्वभावमात्र है । यह तत्त्व बड़ी ऊँची साधना के बाद मिलता है ।

शान्ति की पात्रता – भैया ! इतना श्रेष्ठ मनुष्य जीवन पाकर मोहममता अहंकार की बातों में इतना लिपट जाना उचित नहीं है । किसी भी समय सर्व परतत्त्वों से शून्य केवल ज्ञानप्रकाशमात्र अपने आपमें परिणमन बन सके, यह प्रयोग ही जीवन की सफलता है, किन्तु पर्यायव्यामोह में यह कठिन हो रहा है क्योंकि इस मोही जीव का उपयोग अपने मन के माफिक मन के विषयभूत पदार्थों में ही अटका हुआ है, वह शांति नहीं पा सकता है । शांति का पात्र वही है जो इस चलित व चलायमान् क्रियावान् शरीरपिण्ड को निरखकर भी यह देखे कि वह तो निष्क्रिय है । कितनी सूक्ष्मदृष्टि है यहां साधक पुरुष की ।

विवेकशौर्य – यद्यपि यह आत्मा हाथ पैर अंग-अंग में विभक्त बना हुआ है । जैसे एक इस शरीर का ढांचा कैसा भिन्न-भिन्न अंगोपांग के रूप में है । एक जीव वृक्ष का ढांचा कैसा फूल-फूल पत्ती-पत्ती, डाली डाली में फूलों के मध्य जो मकरंद रहता है पतले डोरे के माफिक, उन पतले डोरों में मकरंदों में सर्वत्र यह आत्मा कैसा विभक्त होकर फैला है । यह क्षेत्रदृष्टि की गई है, अंत: आत्मपदार्थ के बारे में ऐसा लग रहा है, किन्तु जहां ही उस क्षेत्र विस्तार से दृष्टि हटायी, केवल स्वभावमय दृष्टि जमायी तो वहां सर्वविकल्पों से रहित नीरंग निस्तरंग स्वभावमात्र दृष्ट

होता है । यह है साधना शांति के मार्ग की । कुटुम्ब परिवार घर दौलत यही सब कुछ है ऐसी आत्मसमर्पण जैसी बात यह मोही कायर पुरुष की देन है । शूरवीर आत्मा वही है जो पर पदार्थों से अलिप्त रहता है और अपने आपमें बसे हुए सहज चित्स्वभाव की रुचि करता है ।

परमार्थदर्शन का परिणाम – जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूप का चिंतवन करते-करते अपने आपके आत्मस्वभाव में ऐसा स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार, चलता फिरता यह जीव लोक, यह देह पिण्ड, ये सब पत्थर लकड़ी की तरह स्थिर मालूम होते हैं । ओह ! चल रहा है, कौन चल रहा है, कहां चल रहा है, चलते हुए भी अचल दिख रहा है । ऐसी स्थिति वाले की साधना को कौन बता सकता है ? जैसे जो कुछ दिखते हैं ना भींत, फर्श, पत्थर, कपड़े, दरी, जो कुछ यहां दिख रहे हैं, इन्हीं दिखते हुए पदार्थों में और अन्तर में प्रवेश करके परमार्थ सारतत्त्व तो देखो क्या है ? ये दृश्यमान् रूप आदिक पिण्ड परमार्थस्वरूप नहीं हैं । ये सब अनन्त परमाणुवों के पिण्ड हैं । ये सब कुछ एक पदार्थ ही नहीं हैं । इन सब स्कंधों के रहते हुए भी दृष्टि केवल परिपूर्ण अव्यक्त सहज सिद्ध पुद्गलद्रव्य पर जाय, परमाणु पर जाय और वहां परमार्थभूत पुद्गल ही दृष्ट रहे तो ये भींत, फर्श, पत्थर इस ज्ञाता के उपयोग में नहीं रहे, सब गिर गये, सब विलीन हो गये ।

बेअटक में बेअटक प्रवेश – भैया ! परमार्थज्ञाता के उपयोग में तो परमार्थभूत पुद्गल ही नजर आ रहा है । यह दृष्टि का कमाल है । जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा यंत्र मनुष्य के कपड़े, चमड़ी, मांस, खून आदि के फोटो न लेकर, उनका ग्रहण न करके केवल हड्डी का ग्रहण करता है, अस्थियों का ही फोटो ले लेता है । कहीं अटकता नहीं है वह एक्सरा यंत्र अपनी विधिवत् क्रिया करने में । ऐसे ही जानो कि जिनकी परमार्थ की ओर दृष्टि गयी है वे इन दृष्यमान् देहों में अटकते नहीं हैं । ये देह पराये देह अथवा अपना जीवन अधिष्ठित देह ये सुहावने लगें या असुहावने लगें, यह तो दूर की बात है । यह ज्ञानी तो इस चलित देह में इस अचल आत्मतत्त्व को निरख रहा है । ऐसे साधक परमयोगीश्वर संत महात्मा के यह अनुभव में आ रहा है कि यह आत्मतत्त्व निष्पंद है । हाथ बड़े जोर से हिलाया जाय तो हाथ के गोल चक्कर काटने पर आत्मा के उतने प्रदेश भी तो चक्कर काट रहे हैं, गोल फिर रहे हैं, लेकिन ज्ञानी पुरुष को तो यहां वहां चक्कर नहीं दिखते, वह उस ही चीज को तत्त्व की प्रमुखता से जानता है, इसलिए उसे न भिन्न भिन्न रूप में फैलता नजर आता है और न कोई उसमें हानि अथवा कोई वृद्धि नजर आती है । ऐसे इस परमयोगास्पद पुरुष को यह सस्पन्द जगत्, चलायमान यह ऐसा दृश्यमान् जीवलोक अचल की तरह प्रतिभात होता है ।

अन्तस्तत्त्व की स्वीकृति का वर्णन – भैया ! जिसकी इस सहज स्वभाव पर दृष्टि नहीं पहुंची, उसको इस श्लोक में कुछ नहीं मिल सकता है । क्या सस्पन्द और चलते हुए को भी निष्पन्द बताया जा रहा है ? दौड़ तो लगा रहे हैं यह सब कोई और इस ज्ञानी को ये सब कुछ काठ पत्थर की तरह अचल नजर आ रहे है । यह कोई बला है क्या । नहीं, यह कोई सी बला नहीं है, किन्तु आत्मतत्त्व के अन्तरमर्म की, अन्त:स्वरूप की दृढ़ स्वीकृति का परिणाम है । इस ज्ञानी पुरुष को यह सब चलता फिरता लोक निश्चेष्ट नजर आ रहा है ।

आशय के अनुसार अवलोकन का एक दृष्टान्त – जैसे कोई कठिन दुख से जो दु:खी है, जिसका इष्टवियोग हो गया है अथवा किसी जगह अत्यन्त घोर अपमान हो गया है, किसी भी कारण जो घोर दुखी पुरुष है, उसको दुनिया के लोगों के चेहरों पर दु:ख ही नजर आता है। उस समय कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनमें विवाह या अन्य कोई खुशी की बातें हो रही हैं और वे हंस रहें हों, खुश हो रहे हों तो भी इस दुखिया को ऐसा लगता है कि ये कुछ मजाकसा हंसकर कर रहे हैं, सुखी नहीं हैं, ये कुछ जबरदस्ती पर सुखी नहीं हो पाते । दुखिया पुरुष को यह सारा जीवलोक दुखी नजर आता है । सुखी भी हो कोई, मौज भी मानता हो कोई तो उसे वह दिल्लगी करने जैसा मालूम होता है । वह अनुभव नहीं कर सकता कि ये पुरुष सुख में प्रवृत्ति कर रहे हैं । विषयसुखीजीव दुखी को देखकर यह नहीं सोचते कि ये दुख में प्रवृत्ति कर रहे हैं ।

अन्त: अवलोकन का परिणाम – ऐसे ही जिन्होंने सहजज्ञानानन्द स्वरूप का अवलोकन किया है और उसके दृढ़ अभ्यास के बल से सहज उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव किया है, जो इस परमार्थभूत सत्य आनन्द से तृप्त रहा करते हैं, उनको बाहर में कोई जीव दुख करता हुआ व विविध चेष्टा करता हुआ नजर आये तो उन्हें ऐसा लगता है कि ये कोई बनावट कर रहे हैं, नाटक खेल रहे हैं, कोई दुखी नहीं है । जो बात अपने उपयोग में उतरती है, उसके खिलाफ बाहर कुछ नजर नहीं आता है । इस ज्ञानीसंत ने अपने आपमें ऐसे अचल स्वरूप को देखकर सर्वझंझटों से विरक्ति लेकर एक इस आत्मतत्त्व में अपना सर्वस्व लगाया है ऐसे पुरुषों को ये सब कुछ अचलित दिखते हैं । अब यह चल रहा है सो या तो यह कुछ शौक सा कर रहा है या कुछ कौतुक सा कर रहा है । भेददृष्टि की प्रमुखता से आत्मतत्त्व की दृष्टि से यह सब कुछ न कुछ सा नजर आता है । इस ज्ञानी पुरुष पर इन बाह्य पदार्थों की क्रियावों का कुछ भी असर नहीं होता है । अब अनाकुलता और प्रतिकूलता के विकल्प इस ज्ञानी के समाप्त हो जाते हैं ।

निर्मोहता में ही विवेककला का प्रसार – यह सब सस्पन्द जगत् जिसे काठ पत्थर की तरह निश्चेष्ट नजर आ रहा है, जिसे ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिबोध हुआ, ज्ञान हुआ और उस

ही में वैराग्यभाव से गमन किया वह वीतराग भाव को प्राप्त होता हुआ सहज आनन्द का अनुभव करता है । इस मर्म को इस दृष्टि को बहिरात्मा जीव कैसे प्राप्त कर सकता है ? यह मूढ़, पर्यायमुग्ध जीव तो आकुलता के लिए ही जिन्दा है । उसने आकुलता का कभी कुछ सोचा ही नहीं है । चाहता तो है शांति, पर काम बन जाता है उससे अशांति के जैसा । जिस पुरुष को कुछ बोलना ही नहीं आता हो, बोलता तो बहुत हो मगर बेजड़ बोलता हो, अपना लक्ष्य भी अपनी भाषा में बता सकने का साहस और योग्यता जिसमें न हो तो वह बोलना तो चाहता है भले के लिए, मगर बोल ऐसा उठ आता है कि जिससे काम ही बिगड़ता है । दिल में चाहता हुआ भी आगे यत्न नहीं कर सकता है ।

उपादान के अनुसार प्रवर्तन – एक गुरु था । वह जरासा तोतला था । तोतला बोलने वाले से स का उच्चारण ठीक नहीं हो सकता । तोतले कई तरह के होते हैं । कोई कम तोतले कोई अधिक । मगर कम से कम भी जो तोतला है वह स नहीं बोल पाता है । स को ट बोलता है। तो ऐसा ही कम तोतला वह गुरु होगा । शिष्यों को पढ़ाने बैठा तो प्रारम्भ के पाठ में एक शब्द आया सिद्धिरस्तु । जिसका अर्थ है कि सिद्धि हो, पर वह सिद्धिरस्तु बोल नहीं सकता था क्योंकि तोतला था । वह मन में जानता था कि इसका सही उच्चारण सिद्धिरस्तु है, वह मन में बोल लेता था, मगर मुख से सही-सही न बोल पाता था । जैसे कि कोई ऐसे गाने वाले होते हैं कि मन ही मन में गायें तो बढ़िया राग आ जाता है और जब उनके श्रीमुख से वचन निकले तो बेहूदा स्वर निकल आता है । यों ही तोतले को अन्तर में बहुत स्पष्ट बोध रहता है कि इसका यह उच्चारण है । तो वह गुरु शिष्यों को यह समझाना चाहता था कि हम चाहें टिद्धिरस्तु कहें तुम सिद्धिरस्तु समझना । सो वह शिष्यों को कहता है कि देखो हम चाहे जो कुछ कहें, पर तुम उसे टिद्धिरस्तु समझना । वह कहना तो चाहता है सिद्धिरस्तु मगर मुख से निकलता था टिद्धिरस्तु । जब तक दृष्टि विशुद्ध नहीं होती है तब तक अनाकुलता की बड़ी इच्छा भी है, यथार्थ धर्मपालन की बड़ी मंशा भी है, फिर भी वह ऐसी ही क्रिया कर बैठता है कि जिन क्रियावों से शांति पाना तो अलग रहा अशांति ही उसे प्राप्त होती है ।

स्वभाव की दृष्टि व लब्धि की स्थिति – भैया ! मोह ममता एक व्यर्थ का रोग है, एक विडम्बना है । इसका जिसने परिहार नहीं किया और शुद्धभावात्मक केवल ज्ञायकस्वरूप, आकाश की तरह अमूर्त केवल चिद्विलासात्मक आत्मतत्त्व जिसको दृष्ट नहीं हुआ, कितना भी वह यत्न कर ले शांति को प्राप्त नहीं कर सकता है । इस स्वभाव के परिचय के अभ्यास में यहां तक वृत्ति हो जाती है कि उसे यह चलता फिरता हुआ भी जीवलोक चलता नजर नहीं आता है किन्तु निष्पद, अप्रज्ञ, कर्तृत्वभोक्तृत्व से रहित क्रियावों से भी शून्य केवल ज्ञानप्रकाश ही दृष्ट होता है, ऐसा

ज्ञानी ही परमार्थ स्वभाव को प्राप्त करता है, अन्य बहिरात्मा जन उस आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ।

श्लोक 68

शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे॥६८॥

ज्ञान का संवरण – कार्माण शरीररूप तथा नोकर्म शरीररूप कांचुली से ढक गया है ज्ञानरूपी देह जिसका, ऐसा यह आत्मा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता है और इस ही अज्ञान के कारण चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है । जैसे जिस सांप पर कांचुली चढ़ी हुई है उस सांप का रूप रंग दूसरे को कुछ ध्यान में नहीं आता कि किस रंग का है अथवा उस सांप को ही कुछ नहीं दिखता है बाहर । सांप पर कांचुली सांप के ही जितनी लंबी होती है । सांप के शरीर पर कांचुली उसकी आंख पर भी है, सो अंतिम दिनों में जब कांचुली छोड़ने लायक हो जाता है तब उसको दिखना भी बंद हो जाता है, तो जैसे कांचुली से जिसकी आंखे ओर सारा शरीर ढका है ऐसा सांप कुछ देखता नहीं है इस ही तरह इस शरीररूपी कांचुली से इस ज्ञानमयी आत्मा का आवरण हो गया है तो यह भी कुछ जानता नहीं है ।

ज्ञान में शरीरावलम्बन का विघ्न – जैसे कांचुली सांप के शरीर पर आ जाने पर भी धुंधला सा कुछ दिखा करता है ऐसे ही इस शरीर से आवृत होने पर भी यह आत्मा कुछ थोड़ा सा जानता भी रहता है, किन्तु यह केवलज्ञान का अनन्तवां भाग जानना क्या जानना है । यह आत्मा तो अनन्त ज्ञानमय है, जगत् के समस्त पदार्थों को एक साथ स्पष्ट जाने इसमें ऐसी सामर्थ्य है, ऐसा ज्ञानमय यह आत्मा शरीर के कारण अपने विश्वास को खोये हुए है । लोग तो खुश होते हैं शरीर को देखकर और क्या करें, बेचारे फंसे ही ऐसे हैं कि शरीर से कुछ राग करना ही पड़ता है, किन्तु मोही पुरुष ही इस शरीर को निरखकर बड़े प्रसन्न हुआ करते हैं । मैं स्वच्छ हूं, सुरूप हूं पर यह नहीं मालूम है उन्हें कि इस शरीर के कारण कितनी बरबादी हो रही है ? कल्पना करो, शरीर न होता, आप ही अकेले होते, जैसे कि आप इस शरीर में भी अपने आपमें अपने आपके स्वरूप में अकेले में हैं, ऐसे ही अकेले होते तो कितनी अच्छी स्थिति होती ?

क्लेशों का कारण शरीर सम्बन्ध – भैया ! इस शरीर के लगने से ही बड़ी विडम्बना हो गयी। पहिला क्लेश तो यह है कि यह शरीर को 'यह मैं हूं' ऐसा मानता है ।जब शरीर को अपना लिया तो शरीर के विषयों के साधन बनाता है क्योंकि उनके विषयों से शरीर का सम्बन्ध है,

फिर विषय साधन बनाने के लिए बहुत नटखट करने पड़ते हैं । कमावो, संचय करो, बनावो, आरम्भ करो, परिग्रह करो, गृहस्थी बसावो, विवाह करो, संतान हो रहे हैं, रिश्तेदार हो गए, इन सब बातों में उलझना पड़ता है, ये भी सब विडम्बनाएँ हैं । इस शरीर में कितने दुःख हैं, भूखप्यास लगे, ठंड गरमी लगे और सबसे मूढ़ता भरी बात यह है कि यह जरा-जरा सी बातों में सम्मान अपमान माना करता है । यह भी तो इस शरीर के सम्बन्ध से है ना । किसी ने प्रतिकूल कह दिया तो बुरा लग गया । यह बुरा लगना, दिल में उसे पहुंचना इस शरीर के ही कारण तो है । आत्मा तो अमूर्त है, उसमें तो किसी प्रकार की बात लगती नहीं है । जैसे आकाश में चाहे कुछ भी बोलते जावो, कोई बात लगती नहीं है, ऐसे ही कुछ भी बात बोलते जावो इस आत्मा में नहीं लगती है । इस जीव ने इस शरीर को ही मान लिया कि यह मैं हूं और यह कल्पना कर ली कि ये चार लोग इस मुझ को जान जायें ऐसी कल्पना उठ जाने से ही यह अपना सम्मान और अपमान समझता है । कोई तीसरा न जाने एक ने गाली दे दिया, सुन ली उसको तो यह बुरा नहीं मानता, पर तीसरा कोई जान जाय कि इसने इनको गाली दी तो इसे बरदाश्त नहीं होता । यह सब क्या है ? यह शरीर में आत्मबुद्धि करने का ही तो परिणाम है । पहिले तो माना कि 'यह मैं हूं' बस इस मान्यता पर सारे क्लेश हैं ।

क्लेशविनाश का उपाय – भैया ! कितने क्लेश होते हैं ? क्या क्लेश हैं ? उन सब क्लेशों को जोड़ लीजिए, सामने रख लीजिए और एक अपने आपमें आकिञ्चन्य भावना बनायी जाय तो उससे ही वे सारे क्लेश दूर हो जायेंगे । सुखी होने के लिए अन्य उपाय नहीं करना है । सीधा सरल सच्चा, जैसा का तैसा उपाय करना है । जान जावो अपने आपको कि यह मैं इस देह से भी अत्यन्त भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र हूं । इसकी ऐसी ही रचना है कि मैं हूं ऐसा सबसे विविक्त केवल चित्स्वरूपमात्र अपनी प्रतीति ईमानदारी के साथ कर लीजिए, फिर यह श्रद्धा रंच नहीं रहनी चाहिए कि मेरा घर है, मेरा मकान है, मेरा बच्चा है, मेरी स्त्री है, मेरा शरीर है, रंच भी इस और प्रतीति न हो । यदि कभी झलक आ जाए सबसे विविक्त शुद्धज्ञायकस्वरूप की तो समझो कि वे सब क्लेश जो कल्पना कर करके एकत्रित किए हैं, वे सब एक साथ ध्वस्त हो जाते हैं । विपत्ति के बनाने वाले व उनको अलग करने वाले हम हैं।

समय का लाभ – भैया, गुजरा समय तो देखो कैसे गुजरा ? अनन्तकाल गुजर गया कुयोनियों में भ्रमण करते करते । जब पेड़-पौधे, कीड़े मकौड़े थे, तब कहां नामवरी का रोग लगा था ? धनहानि होने पर कुछ शोक होता है । किस बात का शोक है, यह बताओ ? क्या इस बात का शोक है कि अब रोटी ही न मिल पाएगी ? अरे रंज इस बात का है कि लोक में हमारी पोजीशन कहीं कम न हो जाए । लोक में हमारी महत्ता कहीं कम न हो जाए, इस बात का रंज

होता है । अपना जीवन रहने की असुविधा का रंज नहीं है । अब आप जानों कि इतना भव व्यतीत हुआ, अनंत काल से कैसे कैसे भव पाये, आज सुयोग्य से श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया है तो इस मनुष्यभव पाने का सबसे अच्छा लाभ मोह ममता में गुजार देने से नहीं है । इसका लाभ शुद्ध ज्ञानमात्र अपना जैसा सहजस्वरूप है, उस रूप ही अपने आपको देख लो, अनुभव लो, यह है । नरभव की सफलता भी इसी में है ।

बरबादियों का कारण – जिस शरीर से प्रेम है, इस शरीर का संबन्ध ही हमारी सारी बरबादियों का कारण है । यह शरीर अनुराग के लायक नहीं है । शरीर से मोह न होना चाहिए । शरीर की सेवा तो करनी होगी, पर मोह की बात जुदी है । प्राणधारण के लिए शरीर की सेवा कर लेना, यह अलग बात है । जो शरीर में मोह रखते हैं, उनका विकास रुक जाता है । अरे मेरा तो ज्ञानमात्र ही शरीर है । पदार्थ का जो स्वरूप है, वही पदार्थ की बौडी कहलाता है । बौडी का शुद्ध हिंदी शब्द हो सकता है तो कलेवर हो सकता है शरीर और देह आदिक नहीं है। बौडी का प्रयोग शायद सभी पदार्थों में होता है, केवल एक जाननहार में ही नहीं होता है । इस आत्मा के ज्ञान शरीर कहो अथवा ज्ञान की बौडी कहो, ज्ञान ही स्वरूप है। यह ज्ञान- शरीरी आत्मा इस शरीररूप कांचुली से ढक गया है । यह अपने आत्मा को नहीं जान पा रहा, जिससे यह चिरकाल से संसार में भटक रहा है और भेद न कर पाया तो भटकेगा ।

एकक्षेत्रावगाह आवरण – कांचुली का तो एक मोटा दृष्टान्त है । उस दृष्टान्त में तो कांचुली अलग चीज है, सांप अलग है । कांचुली भिन्नक्षेत्र में है, सांप भिन्नक्षेत्र में है । यद्यपि सांप के शरीर के चारों और कांचुली है । जैसे कि पैण्ट में पैर पड़ा है – ऐसे ही कांचुली में सांप पड़ा है । पेण्ट बाहर है पैर से, यों ही सांप कांचुली से दूर है । कांचुली सांप के शरीर के चारों ओर है, पर यहां तो कांचुली शरीर की और कर्म की आत्मा के क्षेत्र में पड़ी है । शरीर, हड्डी, खून, चाम – ये सभी तो शरीर हैं और जहां शरीर पोला है, जैसे नाक के बीच में पोल है और कान के बीच में पोल है, जहां जहां पोल है, उस जगह आत्मा के प्रदेश भी नहीं है । जहां शरीर का मैटर है, वहां आत्मप्रदेश हैं—ऐसा शरीर के एक क्षेत्र में यह जीव अवगाहित है। वह आवरण शरीररूप या कर्मरूप है । फिर भी इन दोनों आवरणों से यह ज्ञान शरीरी आत्मा भिन्न पदार्थ है ।

जो अपने को अकेला अनुभवेगा, वह तो सुखी रह सकता है और जो अपने को बाहर में कुछ मानेगा यह मेरा है, मैं इस रूप हूं, ऐसा भाव जो बनावेगा, वह कभी शांति नहीं पा सकता है ।

समागत पदार्थों की अध्रुवता मानने का प्रथम लाभ – भैया । ये सभी समागम जो व्यवहार में हैं, उन्हें एक बार तो दृढ़ता से मान लेना चाहिए कि जो भी मिले हैं, जिनका भी समागम हुआ है, चेतन अथवा अचेतनपदार्थ ये सब नियम से बिछुड़ेंगे । ऐसी श्रद्धा अभी से बना लो। इससे डबल लाभ है । प्रथम तो यह लाभ है कि उस पदार्थ में मोह न रहने से आकुलता न रहेगी, उसकी एक व्यवस्था ही रहेगी, उसके मालिक बनकर न रहोगे—ऐसी श्रद्धा यदि बन गयी कि जो कुछ मिला है, वह सब नियम से बिछुड़ेगा तो आप उसमें स्वामित्वबुद्धि न कर सकेंगे । फिर जैसे लाखों करोड़ों की फर्म का मुनीम सब व्यवस्था बनाकर भी चैन से रहता है, आकुलित नहीं रहता है – ऐसे ही इन ज्ञानी समस्त अचेतन संगों की व्यवस्था बनाकर भी अन्तरंग में आकुलित नहीं रह सकता । पहिला लाभ तो यह है।

हर्ष और विषाद दोनों में आकुलता – आकुलता दो तरह की है – एक हर्षभरी और एक विषादभरी । विषाद में आकुलता होती है, यह तो सब लोग जानते हैं, पर हर्ष में भी आकुलता बसी हुई है, इस बात को व्यामोही पुरुष नहीं जान सकता है, ज्ञानी ही समझता है। पहिला लाभ तो यह हुआ कि आकुलता न होगी ।

समागत पदार्थों की अध्रुवता मानने का द्वितीय लाभ – यदि यह श्रद्धा रही आयी कि जो कुछ समागम में प्राप्त हुआ है, सब कुछ किसी दिन अवश्य बिछुड़ेगा । चाहे आपका छोटा बालक हो, जिसके सम्बन्ध में यों सोचते हो कि वाह इससे तो हम पहिले मरेंगे तो ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता कि पहिले कौन मरेगा ? इस मृत्यु का नाम यमराज भी है । यमराज कोई अलग से देवता नहीं है । अलंकार में यमराज है । आयु के क्षय का नाम यम है । इस यम में बड़ी समता है ।कैसी समता कि इसके आगे न बालक, न जवान, न बूढ़ा, किसी का इसे पक्ष नहीं है, सबको एकदृष्टि से यह यमराज देखता है । जिस किसी पर बिगड़ा यह यम, उसी को खत्म कर देता है । इसकी निगाह में बच्चे, बूढ़े का भेद नहीं है कि यह अभी बच्चा है, इसे न खत्म करें, बूढ़े को पहिले खत्म करें, ऐसा वहां कुछ भी पक्ष नहीं है । यह अलंकार में कह रहे हैं । प्रथम तो यह ही निर्णय नहीं है । दूसरे मान लो कि आप उस बच्चे से पहिले ही मर गये तो वियोग तो हो ही गया । वियोग तो दोनों ही हालत में है –खुद पहिले मर गए तो, छोटा बच्चा पहिले मर गया तो । वियोग मानने पर तो दुर्गति ही होती है । इससे अपनी कुशलता चाहते हो, अपनी शांति चाहते हो तो इस श्रद्धा को मत भूलो। यह श्रद्धा दृढ़ बनाओ कि जो कुछ समागम में आया है, इसका नियम से वियोग होगा।

स्व की अन्य द्रव्यों से सदा भिन्नता – भैया ! पर का वियोग क्या होगा ? अलग तो हैं ही और अलग हो गए, जरा तो अधिक दूर पंहुच गए । जितने काल आपके घर में है वैभव, उतने काल भी वह वैभव आपसे अलग है, आपकी आत्मा से घुलामिला नहीं है । कभी और अलग हो गया, जरा और दूर हो गया, हैं सभी परतत्त्व अपने से दूर । एक कूंजड़ा और कूंजड़ी थे बड़ी उम्र के । दोनों में लड़ाई बहुत होती थी । दोनों ही एक दूसरे का मरना विचारते थे । कूंजड़े का व्यवसाय था कि साग-सब्जी तथा पीपल, नीम आदि की पत्तियां ऊँट पर लाद लाता था और बेच देता था । वह ऊँट पर चढ़कर आता और ऊँट पर ही चढ़कर जाता । अचानक ही किसी दिन कूंजड़ा गुजर गया । लोग उस कूंजड़ी को सहानुभूति दिखाने के लिए आए और बोला कि क्या किया जाए, अब तो वह स्वर्ग सिधार गया । स्वर्ग तो ऊपर ही होता है - यह लोग समझाने आए । अब कूंजड़ी कहती है कि स्वर्ग तो वे चढ़े ही रहा करते थे, थोड़ा और ऊपर चढ़ गए तो ऐसी ही सारे समागमों की बात है । सब चीजें आपसे अलग तो वैसे ही हैं, धन, वैभव, कुटुम्ब कहां आपसे चिपके हैं ? कल्पना ही कर रहे हो कि ये मेरे हैं ।

संसारभ्रमण व संकट मिटने का उपाय अपनी विविक्तता का दर्शन – भैया ! धन, वैभव आदि तो बेईमानी नहीं कर रहे हैं, आप ही तो मान रहे हैं कि ये मेरे हैं । ये बाह्यपदार्थ हैं, जैसे हैं वैसे ही हैं । अब भी वे दूर हैं । कोई समय ऐसा आएगा कि वे और दूर हो जायेंगे, पर जो अभी से यह श्रद्धान बनाए हैं कि जो कुछ समागम प्राप्त हैं, उन सबका वियोग भी अवश्य होगा—ऐसे श्रद्धालु के वर्तमान में भी आकुलता नहीं रहती है और अन्तिम समय में भी क्लेश नहीं रहता है, किन्तु जब बिछुड़ने का समय आता है तब यह जानता है कि मैं तो पहिले से ही समझ रहा था कि वियोग जरूर होगा । अब हो गया होने दो । जैसे कोई पुरुष ६ महीने से ही कठिन बीमार पड़ा हो, बचने की उम्मीद न हो तो उसके गुजरने पर अधिक क्लेश क्यों नहीं होता ? यों नहीं होता कि घर के लोग जान रहे हैं कि यह बात तो चार महीने पहिले से जान रहे थे कि यह बचने वाला नहीं है, मरेगा और कोई पुरुष अचानक ही चटपट हो जाय तो उसका बड़ा शोक होता है क्योंकि एकदम बात यह ज्ञान में आयी कि ओह! अनहोनी हो गयी । तो जिसके सम्बन्ध में आप पहिले से समझ रहे हो कि इसका वियोग जरूर होगा तो उसका वियोग होने पर क्लेश नहीं हो सकता है तो जिनसे परिचय हो अथवा न हो, उन सबको अभी से जान लो कि ये भिन्न हैं, इनका वियोग अवश्य होगा । यदि परमार्थ दृष्टि रखकर सबको अपने से भिन्न मान लिया जाय तो उससे संकट भी टलेंगे और संसारपरिभ्रमण भी मिटेगा ।

श्लोक 69

प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धय:॥६९॥

शरीर की अस्थिरता – यह शरीर स्थिर पदार्थ नहीं है । स्थूलरूप से सभी जानते हैं । यह जीर्ण होता, शीर्ण होता, नष्ट होता, नाना रंग आकार बदलता, छोटा बड़ा होता, यह स्थिररूप नहीं रहता है । यह मोटा दृष्टान्त है और बारीक दृष्टि से देखो तो एक ही दिन में, एक ही घंटे में, एक ही मिनट में, एक ही सेकेण्ड में समझो अनेक परमाणु नवीन आते हैं और अनेक परमाणु पूर्वबद्ध खिर जाते हैं । इस शरीर में अनेक तो नये परमाणु आते हैं और अनेक पहिले के बँधे बँधाए कर्म शरीर से अलग हो जाते हैं ।

पुद्गल के लक्षण – इन पुद्गलों का पूरण और गलन हो रहा है, यह बात शरीर में तो है ही पर उसके अतिरिक्त सभी अचेतन पदार्थों में भी यह बात है । इन स्कंधों में अनेक नवीन परमाणु आते हैं और अनेक खिर जाते हैं इसीलिए इनका नाम पुद्गल है । जितने भी रूपवान् पदार्थ हैं ये सब पुद्गल हैं । कोई लोग तत्त्व की संख्या बनाने में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनको अलग-अलग तत्त्व मानते हैं । पर ये अलग-अलग कैसे हैं ? जब जल कभी वायु बन सकता है, वायु कभी जल बन जाता, पृथ्वी आग बन जाती, आग पृथ्वी बन जाती याने ये सभी कालान्तर में इनमें अन्यरूप हो सकते हैं तब ये अलग-अलग कैसे रहें मूल में ? अलग-अलग पदार्थ वे कहलाते हैं जो त्रिकाल में भी उस रूप न हो सकें । ये सबके सब पदार्थ भी पुद्गल कहलाते हैं । जो रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला हो उसे पुद्गल कहते हैं । जो पूरे और गले, संयोग होकर बिखर जाय और बिखरकर छोटा रह जाय, ऐसी स्थिति जिन पदार्थों में रहती है उन्हें पुद्गल कहते हैं ।

पदार्थ के भेद करने की पद्धति – पदार्थ ६ प्रकार के होते हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । पदार्थों के भेद करने की प्रणाली कितनी युक्तियुक्त है, इसकी पहिचान भेद करने की पद्धति यह है कि जिसका भेद किया जाय वह भाग भी न छूटे और जो भेद किए जा रहे हैं वे परस्पर में एक दूसरे से मिलें नहीं, यह है भेद करने की पद्धति । जैसे संसारी जीव कितनी तरह के होते हैं ? कोई कहे कि दो तरह के होते हैं एकेन्द्रिय जीव और संज्ञी जीव । इन दोनों में सब संसारी आ जाने चाहिए तब तो भेद की पद्धति है, पर नहीं आये । अच्छा तो सही भेद बतावो । संसारी जीव के दो भेद हैं एक त्रस और एक स्थावर । इसमें कोई संसारी

नहीं छूटा । पहिले किए गये भेद में दो इन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रियसब ये छूट गये थे । इसमें कोई भी नहीं छूटा ।एक बात तो यह है और दूसरी बात जो भेद किए जा रहे हैं वे परस्पर में उस पर्याय में लक्षण से मिल न जायें कि कोई स्थावर त्रस भी हो जाय और त्रस स्थावर भी हो जाए, ऐसा मेल न हो जाय तब वह सही भेद कहलाता है । तो द्रव्य के जो ६ भेद किए हैं इन छहों से अलग कोई द्रव्य नहीं है, और ये छहों कभी एक दूसरे रूप नहीं हो सकते हैं ।

द्रव्यों की शाश्वत परस्पर विभिन्नता – जीव का लक्षण चैतन्य है, इस रूप में पांचों द्रव्य हो ही नहीं सकते । पुद्गल का लक्षण है पूरना और गलना, जुड़कर पिण्ड बन जाना और बिछुड़कर अलग हो जाना, यह बात किसी भी दूसरे द्रव्य में नहीं है । पुद्गल ही एक ऐसा है जो पूरता है और गलता है । क्या कभी १० जीव मिलकर एक पिण्ड बन सकेंगे ? यह मोही जीव मोह कर करके हैरान हो जाता है और इतना व्यामोह करता है कि मैं और पुत्र ये दोनों एक ही जीव हैं और चाहते हैं कि एक बन जायें, पर बन सकते नहीं हैं एक पिण्ड । ऐसे ही अन्य कोई भी द्रव्य न पूर सकता है, न गल सकता है । पुद्गल में ही यह स्वभाव है कि वह मिल कर पिण्ड बन जाय और गलकर अलग हो जाय अथवा पुद्गल उसे कहते हैं जिसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जायें । यह स्वरूप भी अन्य द्रव्य में नहीं है । धर्मद्रव्य एक अमूर्तिक पदार्थ है जिसके होने पर जीव और पुद्गल गमन कर पाते हैं । सर्वत्र लोकाकाश में भरा है ऐसे ही अधर्म द्रव्य भी भरा है जिसके होने पर चलता हुआ जीव पुद्गल ठहर सकता हैं । आकाशद्रव्य तो कुछ जल्दी समझ में आ जाता है और लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालद्रव्य सदा अवस्थित रहता है । ऐसे इन ६ प्रकार के द्रव्यों में कोई एक दूसरे रूप नहीं होता । अगर हो जाय तो वह भेद नहीं है ।

शरीर में स्थिरता के भ्रम का कारण शरीर की सीमित समाकारता – ये पृथ्वी, जल, आग, हवा आदि कालान्तर में एक दूसरे रूप हो जाते हैं इसलिए मूलत: ये भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं हैं, ये सब एक पुद्गल जाति में गर्भित हैं । यह शरीर पुद्गल है, इसमें अनेक परमाणु आते हैं और अनेक निखरते हैं । ऐसे इस बिगड़ने वाले इस देहपिण्ड में इन मूढ़ आत्मावों की क्यों आत्मबुद्धि हो गयी ? उसका कारण भेद विज्ञान का अभाव है । कहीं नये परमाणु के आने से कभी यह शरीर बछड़ा जैसा नहीं बन जाता है । कहीं मुह में कुछ लम्बे ढंग से परमाणु चिपक जायें तो यह बछड़ा का मुँह बन जाय ऐसा नहीं देखा जाता है । कितने ही परमाणु आते हैं और जाते हैं, फिर भी समान आकार रहता है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह शरीर तो वही का वही है जो

कल था जो सुबह था, भिन्नता नहीं नजर आती है । ऐसी स्थिरता दिखने के कारण भी यह व्यामोही जीव इसको आत्मरूप से मानता है ।

अजीव को स्थायी मानने की जीव में प्रकृति – भैया ! हम आप सब जीवों में इतनी बात तो भलीहै कि हम उसे मानते हैं अहं, जो स्थिरता से रहता हो । अस्थिर चीज में मैं मानने की तैयारी नहीं होती । यह एक भीतरी प्रकृति है जीव की । यह जीव किसी अस्थिर रूप अपने को मानना नहीं चाहता । इसको शरीर के बारे में यदि यह पता रहे कि वह अस्थिर है तो इसमें स्वतत्त्व की बुद्धि न कर सकेगा । इस व्यामोही जीव को इस शरीर में जो कि समान आकार वाले हैं इस कारण से स्थिति की भ्रांति हो गयी कि यह शरीर सदा रहने वाला है, सदा टिकने वाला है, मैं वह हूं जो सदा टिक सकूँ सो इस प्रकार से इसने इस देह को आत्मा माना है । अभी किसी गरीब को ही कहा जाय कि तुमको हम एक दिन के लिए लखपति बनाये देते हैं । ये सारे मकान, सारी जायदाद तुमको देते हैं और दूसरे दिन जो कुछ तुम्हारे पास भी है उसे भी छुड़ा लेंगे और निकाल देंगे । तो वह क्या मंजूर करेगा ? न मंजूर करेगा। वह तो यही कहेगा कि हमें तो ऐसी स्थिति मंजूर है जो सदा रहे । ऐसी गरीबी ही वह तो मंजूर करेगा । एक दिन को धनी कबूल करके फिर अपनी भी निधि गांठ से लुटा दे ऐसी स्थिति को मंजूर नहीं करेगा । यह चाहता है कि मैं तो वह रहूं, जो सदा रह सकता हूं, वह होऊं । इससे अन्तरंग की प्रवृत्ति समझ लीजिए कि इसकी चाह है, इसकी प्रतीति है कि मैं वह हूं, जो सदा रह सकता हूं, इतनी तो अच्छी बात है, किन्तु इस शरीर को ही इसने ऐसा समझ लिया कि यह सदा रह सकता है, क्योंकि समान आकार का बना रहता है, इससे इस शरीर में आत्मबुद्धि कर ली हैं ।

अतिनिकट काल में शरीर के विनाश की संभावना में धर्मानुराग की प्रगति – नीतिकार कहते हैं कि धर्म वही पाल सकता है, जो यह विश्वास रखता हो कि मृत्यु तो मेरी चोटी पकड़े हुए है, जब चाहे झकझोर दे और तब ही मुझको यह शरीर छोड़कर जाना पड़ेगा—ऐसी जिसमें प्रतीति है, वही धर्मपालन कर सकता है । जो यह जानता है कि ऐसा मैं सदा रहूंगा, जैसा वैभववान हूं, परिवारवान् हूं, शरीर वाला हूं—ऐसा मैं सदा रहूंगा तो उसे धर्मपालन की उत्सुकता न होगी । कभी देखा भी होगा कि कोई बड़ा तेज रोग हो गया हो या किसी विकट दंगे में फस गया है। या कहीं आग का सामना हो गया हो या समुद्र आदिक में कुछ डूबने की आशंका हो या घर में बड़ा तेज रोगी होकर पड़ा हुआ हो, जंगल में बहुत भटक गया हो, जहां यह आशंका हो कि किसी भी समय कोई सिंह आदि आकर मुझे खा सकता है—ऐसी जब कोई स्थिति आती है तो प्राय: यह जीव धन की, परिजन की याद न करके यह याद करता है कि ओह ! इन संकटों से मैं बच जाऊँ तो खूब धर्मधारण करूँगा और अपने जीवन को सफल करूँगा । जब यह भावना

होती है कि मृत्यु तो मेरे सिर पर खड़ी हुई है, जब चाहे मैं झकझोरा जा सकता हूं तो इसकी धर्मपालन की दृष्टि होती है और यह ज्ञान धारण करता है ।

शरीरस्थिति के भ्रम में आत्मभ्रान्ति – जिसने इस अस्थिर परमाणु के समूह में स्थिर बुद्धि कर ली है, वह तो अबुद्धि बनकर इसको ही आत्मा मानता है कि यह ही मैं हूं । जो जिसको अहंबुद्धि से स्वीकार करता है, वह उसकी प्रगति में रहता है । जिस ज्ञानी संत पुरुष ने इस देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप इस चेतनतत्त्व को ही मैं आत्मा हूं—ऐसा मान लिया, वह इस चेतनतत्त्व के विकास में ही अपना कल्याण समझेगा । एक इस चिद्विलास में ही उत्सुकता बनेगी और जिसने शरीर को माना है कि यह मैं हूं—ऐसा हट्टा कट्टा, दुबला, पतला, गोरा, सांवला, ठिगना, लम्बा, किसी भी रूप इस शरीर को यह मैं हूं ऐसा मान लेता है तो अब वह इस शरीर की प्रगति में रहेगा । शरीर जैसे राजी होता है—पञ्चेन्द्रिय के विषयों का जिसका प्रयोजन होता है यों समझ लीजिए अलंकार में, इस शरीर को जिसने आत्मरूप में स्वीकार कर लिया है, वह उसकी प्रगति के लिए यत्नशील रहता है । ये प्रवेश करने वाले और गमन करने वाले अणुवों के समूहरूप देह में समाकृति होने के कारण जिनको स्थिरता का भ्रम हो गया है कि यह जीव तो सदा रहने वाला है, तब यह मैं हूं—इस प्रकार की उन सब अज्ञानियों की बुद्धि बनती है ।

मिथ्याज्ञान का महासंकट व कुरस का स्वाद – भैया ! मिथ्याज्ञान से बढ़कर कोई दुनिया में संकट नहीं है । संकट तो उसे कहते हैं, जहां यह आत्मा बैचेन हो, असंतुष्ट हो । यह संकट अज्ञान से भरा हुआ है, अत्यन्त भिन्न है, जिसका मुझमें कुछ वास्ता ही नहीं है – ऐसे इन धन सम्पदा आदिक पदार्थों में 'यह मैं हूं, यह मेरा है' ऐसी जो बुद्धि लगाता है, वह संकट में है, अज्ञान अंधेरे में है । सम्यग्ज्ञान से बढ़कर कुछ वैभव नहीं और मिथ्याज्ञान से बढ़कर कुछ संकट नहीं । स्वाद तो उसका ही आएगा, जिसकी ओर दृष्टि है, जिसकी रुचि है । यह जीव भावात्मक पदार्थ है और भावों को ही करता है, भावों को ही भोग सकता है । जैसा इसका भाव होगा, तैसा ही इसे स्वाद आएगा ।

जैसे एक अल्प कथानक कि राजा ने भरे दरबार में मन्त्री से कहा कि मंत्री जी! रात्रि में मैंने ऐसा स्वप्न देखा कि हम तुम घूमने जा रहे थे । रास्ते में दो गड्ढे मिले । हम तो गिर गए शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गए मल के गड्ढे में । मन्त्री ने कहा कि महाराज ! ऐसा ही हमने भी स्वप्न देखा, पर थोड़ा इसके आगे और देखा कि हम तुम्हें चाट रहे थे और तुम हमें चाट रहे थे । अब यह बतावो कि राजा को क्या चटाया ? मल । और स्वयं ने क्या चाटा ? शक्कर । जैसी जिसकी दृष्टि होती है, उसके अनुसार उसे रस आता है, अनुभूति होती है । हमारी दृष्टि अज्ञानभरी है तो वहां स्वाद अज्ञान का है । मोह विष का ही स्वाद है ।

ज्ञानदृष्टि में ज्ञानसुधार का स्वाद – भैया ! हमारी दृष्टि ज्ञान से भरी है तो भले ही हम देह में फंसे हैं, लेकिन स्वाद आयेगा उसका ही, जिस ओर हमारी निगाह है । हम यदि इस शरीर से भेदभावना करके विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को निरख रहे हैं तो वहां एक भी संकट नहीं है। जहां इस आत्मस्वरूप से चिगकर अन्य पदार्थों में 'यह मेरा है, मैं इसका हूं' ऐसी कुबुद्धि की जाती है तो संसारसमुद्र में गोते ही खाते रहना पड़ेगा । मोह से बढ़कर दुनिया में कुछ संकट नहीं है । व्यर्थ का मोह है । मेरा मेरे स्वरूप के सिवाय कौन है ? स्वभावत: सब जुदे हैं,

एक दूसरे से विमुख हैं । किसी में मैं मिला हुआ नहीं हूं । मुझे कौन कब सहारा हो सकता है ? सब भिन्न हैं – ऐसी दृष्टि नहीं की जा सकती है मोह में । इतना साहस नहीं बनता है कि जो बात जैसी है, उसे उस ही प्रकार हम मान लें । अज्ञान में रहेंगे तो केवल क्लेश ही भोगने पड़ेंगे । यदि ज्ञानभाव में रहेंगे तो हमारे सब संकट छूट जायेंगे ।

संसारमार्ग व मोक्षमार्ग का मूल देह के सम्बन्ध व असम्बन्ध का विनिश्चय –जो ज्ञान का विस्तार होगा, अज्ञान का विस्तार होगा, उन सबका मूल साधन देह और जीव के परस्पर सम्बन्ध और असम्बन्ध देखने का है । जैसे कहीं दो तीन सड़क सामने फूट गए हैं तो जहां से फूटे हैं, उससे पहिले का जो मार्ग है, वह मूल में है, उसके ही बाद फिर रास्ता फूट गया है। ऐसे ही इस देह और जीव के प्रसंग में यह मूल बात है कि संबन्ध माने तो इन समस्त संकटों का विस्तार बनता जाता है और संबन्ध को न माने तो सब के सब संकट समाप्त होते हैं । यह अज्ञानी जीव मिलते जुलते रहने वाले परमाणुओं के समूह को स्थिर बताया करता है और इसी कारण से यह मैं हूं, यह मैं हूं, यह मैं अमुक हूं—ऐसी कल्पना बनाता है, यही उसके सर्वसंकटों का मूल है ।

श्लोक 70

गौर: स्थूल: कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।

आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ।।७०।।

शान्तिमार्ग के लाभ का उपाय – मैं गौर हूं, स्थूल हूं, कृश हूं, वृद्ध हूं, बाल हूं आदिक रूप से शरीर के साथ अपने आत्मा को न जोड़कर सदा अपने आपको केवलज्ञानस्वरूप चित्त में लाना चाहिए । जैसे किसी ने सोचा कि मैं मोटा हूं तो मोटापन शरीर के होता है अथवा आत्मा की चीज है ? शरीर की चीज है । शरीर के इस धर्म को अपने आत्मा में जो जोड़ता है, उसे उसके अनुकूल संकल्पविकल्प में जुतना पड़ता है – ऐसे ही मैं गोरा हूं, मैं सांवला हूं आदिक रूप से जो शरीर के धर्म को अपने आत्मा के साथ जोड़ता है, वह भी संकल्प विकल्प से परेशान होता

है । जो शरीर के धर्म को आत्मा के साथ न जोड़े और केवल ज्ञानशरीरमात्र अपने आपको निहारे तो वह शांति के मार्ग में बढ़ सकता है ।

प्राकरणिक भेदविज्ञान – जो जाननहार पदार्थ है, वह मैं पदार्थ हूं । जाननहार पदार्थ में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं हैं । इस आत्मा में अन्य आत्मावों या अन्य पदार्थों का जोड़ नहीं होता, पूर्ण नहीं होता, इस कारण यह आत्मा न मोटा है, न दुबला है, न सांवला है, न गोरा है । किसी भी प्रकार का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इस आत्मा में नहीं है । आत्मा का तो केवल एक ज्ञायकस्वरूप है । जो आत्मकल्याण चाहते हैं, ऐसे पुरुषों को चाहिए कि वे इस आत्मा को इस पुद्गलपर्याय में एकमेक न करें और इसे अपने रूप न मानकर अपने को कल्याणस्वरूप समझें । इसी का नाम भेद विज्ञान है । जिन जिन जीवों ने शांति पाई है, वह भेदविज्ञान के उपाय से ही पाई है ।

विकट व्यामोह – अहो, कितना मिथ्या आशय मोही प्राणी का है कि प्रकट भिन्न हैं परपदार्थ, किन्तु उनसे ही मोही अपना जीवन समझते हैं । कोई ऐसे भी व्यामूढ़ पुरुष होते होंगे कि जिनके बारे में ऐसी बात भी प्रसिद्ध है कि कोई एक भूखा पुरुष एक रुपया लेकर चला बनिये की दुकान पर कुछ आटा घी आदि लेने । सस्ता जमाना था । तौल दिया खाद्य सामान और जब रुपया देने लगा तो बहुत देर से मुट्ठी में रुपया लिए रहने के कारण से पसीज गया तो उसने रुपये की ओर देखा कि यह मेरा रुपया रो रहा है, आ गया ना पसीना । अब कहता है कि रोवे मत, मर जई हैं, पर तुम्हें न भजई हैं । सो वह तो आटा, दाल, घी आदि छोड़कर वापिस आ गया । होते होंगे कोई ऐसे लोग ।

मक्खीचूस की उपपत्ति – एक कहावत प्रसिद्ध है कि "कंजूस मक्खी चूस ।" मक्खीचूस का मतलब यह नहीं है कि जो मक्खी चूसा करते हैं, उन्हें मक्खीचूस कहते हैं । एक जौहरी की लड़की थी । वह एक घी बेचने वाले के घर ब्याही गयी । उसका घी का बड़ा भारी काम था । घी वाला भी लखपति आदमी था और वह जौहरी भी वैसा ही लखपति था । एक दिन जौहरी की लड़की ने देखा कि घी में एक मक्खी गिर गई, उसके स्वसुर साहब उसे निकाल रहे हैं । मक्खी के कहीं एक बून्द घी चिपका रह गया, उस एक बून्द घी को स्वसुर साहब उस मक्खी को पकड़े हुए टपका रहे थे । जौहरी की लड़की ने जब यह देखा तो उसके सिर में दर्द हो गया, वह आह भरने लगी । ओह मैं कैसे लखपति जौहरी की लड़की और कैसे मक्खीचूस के घर ब्याही गयी ? उसके सिरदर्द का समाचार स्वसुर साहब के पास पहुंच गया । स्वसुर साहब आए तो देखा कि बहू तो बड़ी बैचेन है । बहुत से डाक्टर आये, पर उसका सिरदर्द न मिटा । जब मन के विचार से कोई वेदना हो जाती है तो वह औषधि से नहीं मिटा करती है। उसका

सिरदर्द ठीक न हुआ तो स्वसुर पूछा कि बहू यह तो बतावो कि तुम्हारे सिर का दर्द मिटेगा कैसे ?

बहू बोली कि क्या बतायें ? जब हमारे घर पर सिरदर्द होता था तो मुठ्ठी भर असली मोतियों को पीसकर उसका लेप मस्तक पर लगाया जाता था । स्वसुर साहब बोले कि यह कौन सी बड़ी बात है ? उसने अपने खजाञ्ची को हुक्म दिया कि एक लाख रुपये निकालो व इसी समय बिढ़या मोती ले आवो । थोड़ी ही देर में एक लाख के बिढ़या मोती आ गए । सेठ जब उन मोतियों को पीसने लगा तो उसी समय बहू ने रोक दिया और कहा कि बस पिताजी ! मोतियों को अब मत पीसो, हमारा सिरदर्द ठीक हो गया । अरे ठीक कैसे हो गया ? दवा तो करनी ही पड़ेगी । बहू ने कहा कि दर्द मिट गया । दर्द तो हमारे यों हो गया था कि आप एक मक्खी को पकड़े हुए उसमें लगा एक बून्द घी टपका रहे थे । ऐसे मक्खीचूस को देखकर मेरे सिर में दर्द हो गया था और जब देखा कि आप जरा से सिरदर्द में लाखों रुपये के मोती पीसने जा रहे हैं तो दर्द ठीक हो गया । अब स्वसुर साहब बहू से कहते हैं कि बहू ! अभी तुम नहीं जानती हो कि जब कमाया जाता है तो इस तरह कमाया जाता है और जब खर्च किया जाता है तो इस तरह खर्च करते हैं ।

शान का फैलाव – भैया ! कितने तरह के व्यामोह हो जाते हैं । ये सब व्यामोह शरीर की विडम्बना के कारण होते हैं । यह मैं हूं, ऐसा मैं हूं, मुझे लोग समझें कि मैं क्या हूं ? जैसे भिखारियों की जमात होती है तो वे परस्पर शान में मारते हैं कि मैं इस कला से भी मांग लाता हूं, इस तरह की रोती हुई शकल दिखा देता हूं कि बड़े बड़े सेठों का दिल भी हिल जाता है और वे भी कुछ न कुछ दे देते हैं । वे भिखारी भी परस्पर में अपनी शान मारते हैं । ऐसे ही ये सब मोहीजीव भी अपनी शान बगराते हैं । मोही कहो, चाहे मूढ़ कहो, चाहे मूर्ख कहो, इनका सबका अर्थ तो एक ही है । ये सब मूढ़जीव या ये सब मूर्ख जीव भी ऐसे ही मूढ़जीवों में ऐसी अपनी शान बगराते हैं ।

लौकिक अलौकिक जिज्ञासा – ये सब मायाजाल है । इनमें प्रीति करने से क्या हित है ? ऐसी बात सुनकर कोई यह शंका कर देगा तो साहब ऐसे ही अपने घर बैठे रहें, न देश का काम करें, न चुनाव लड़ें, न कुछ करें, ऐसे ही बैठे रहें घर में । ये भिन्न भिन्न रुचियां होती हैं । कोई ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने का उपदेश दे और वहां कोई सोचे कि ऐसे ही अगर सब ब्रह्मचारी बन जाएँ तो फिर संसार कैसे चले ? ऐसे भी शंकाकार होते हैं, जिन्हें दुनिया की ज्यादा फिकर पड़ जाती है । अरे बड़ी बड़ी शुद्ध भावनाएँ, बड़े बड़े प्रयत्न कर लेने पर भी कोई बिरला ही धर्म में स्थिर हो पाता है । यह तो संसार है, असार है, ऐसा कैसे हो सकता है कि सब हो जायें ब्रह्मचारी । ऐसा कैसे हो सकता है कि सभी आत्मकल्याण का यत्न कर लें । मान लो कि

कदाचित् सब ब्रह्मचारी हो जायें और संसार न रहे, मिट जाए तो भला हुआ या बुरा हुआ ? अरे सब जीव कहां जायेंगे ? मुक्त हो जायेंगे । संसारी न रहे तो क्या हानि है, क्या चिंता है ? चिंता करो आत्मकल्याण के लिए ।

स्वयं की स्वयं से ही रक्षा – भैया ! यह सारा अन्धेरा है, मायाजाल है, यहां कुछ भी बात सत्यभूत नहीं है, प्रामाणिक नहीं है । यहां किसे अपना नाम दिखाना चाहते हो ? कौन तुम्हारा यहां परमेश्वर है, जिसके हाथ में तुम्हारा भविष्य निर्भर है । अन्य को प्रसन्न करने के लिए, अन्य में अपना नाम प्रतिष्ठित रखने के लिए उद्यम करना, यह हित की बात नहीं है। जैसे भयानक जंगल में जहां सामने तो नदी हो, अगल बगल के पहाड़ों में आग लगी हो, पीछे से १०० शिकारी तलवार, बन्दूक, धनुषबाण लिए एक हरिण का पीछा कर रहे हों तो बताओ कि हरिण का उस समय व्यवहार में कोई भी रक्षक है ? कहां जाये वह हरिण ? आगे गया तो नदी में कूदकर मरेगा, अगल बगल गया तो जंगल में जलती हुई आग में जल मरेगा और पीछे मुड़ा या वहीं रहे तो बन्दूक की गोलियां सहेगा । क्या करे वह हरिण ? जैसे उस स्थिति में वह हरिण अरक्षित है—ऐसे ही इस लोक में आपका कौन सहाय है ? हम आप सभी यहां असहाय हैं, यहां कोई भी रक्षक नहीं है । अपने परिणाम को निर्मल करो तो रक्षा होगी । परिणामों की निर्मलता तब होगी जब मोह न होगा ।

ज्ञानातिरिक्त अन्य आशयों में अशान्ति – अपनी शांति चाहते हो तो अपना काम भीतर में बना लो । घर में बसते हुए भी सच्चा प्रकाश अपने उपयोग में लावो । इस अमूर्त आत्मा का एक अणु भी कुछ नहीं है । कोई भी जीव मेरा कुछ नहीं है—ऐसी विशुद्ध एकत्वभावना जगे तो अपना पुरुषार्थ अपने को शरण होगा, अन्यथा बहुत दुर्गतियों में भटकना पड़ेगा । अपना भविष्य अपनी प्रतीति पर निर्भर है । मैं अपने को कैसा मानूं तो क्या गुजरेगा यह अपनी प्रतीति पर निर्भर है । कोई यह प्रतीति रख रहा हो कि मैं बच्चों वाला हूं तो क्या उसे बच्चों की सेवा न करनी पड़ेगी ? करनी पड़ेगी । कोई अपने को मानता हो कि मैं इस नगर में एक पोजीशन वाला हूं तो क्या उसे अपनी पोजीशन रखने के लिए दूसरों के अधीन न होना पड़ेगा? जो सोचता हो कि मैं धनवान हूं तो क्या वह धन की वृद्धि के लिए यत्नशील न रहेगा ? रहेगा । और कोई यह जाने कि यह मैं आत्मा मात्र ज्ञानानन्दस्वरूप हूं तो क्या वह इस ज्ञानानन्दस्वरूप की उपासना में न लगेगा ? लगेगा । ऐसे ही जो पुरुष अपने को इस रूप समझते हैं कि मैं काला हूं, सावंला हूं, मोटा हूं, दुबला हूं, और इस अभिप्राय पर यह समझता है कि मैं सुखी हूं, दुःखी हूं, गरीब हूं, धनी हूं – ऐसा पुरुष अपने आपमें बसे हुए ज्ञानमय चैतन्यप्रभु का दर्शन नहीं कर सकता है जिसमें अतुल शान्ति और आनन्द भरा हुआ है ।

आत्मा की झलक – जो पुरुष अपने आत्मा को इस शरीर के साथ अभेदरूप नहीं करता है एक नहीं मानता है, वह पुरुष केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को निरख सकता है । यह कुछ कठिन नहीं है, दृष्टि जाने की बात है । एक बार राजा घोड़े पर चढ़ा हुआ कहीं जा रहा था । रास्ते में मिला दीवान का घर । वह बड़ी विवेक और ज्ञान की बात करता था । राजा के मन में कुछ ऐसा आया कि मैं इस दीवान से कुछ धर्मचर्चा की बात छेड़ूँ । राजा ने कहा – दीवान जी हमें तुम आत्मा और परमात्मा दिखावो । तो दीवान ने कहा कि आप बैठो एक आध घंटे का समय दो, तब सुन लीजिए । तो राजा बोला कि मुझे आथ घंटे का समय कहां है ? तुम ५ मिनिट में बतला सकते हो तो बतावो । तो दीवान बोला कि हमारा कसूर माफ कर दो तो हम ५ मिनिट में नहीं, एक ही मिनट में तुम्हें आत्मा और परमात्मा बता सकते हैं । राजा बोला, हां माफ । सो दीवान ने क्या किया कि राजा के हाथ से कोड़ा छीना और दो चार कोड़े राजा के जमा दिये । राजा कहता है कि अरे रे रे भगवान् तो दीवान कहता है कि जिससे तुम अरे रे रे कह रहे हो वह तो है आत्मा और जिसे भगवान् कह रहे हो वह है परमात्मा । आया समझ में कछु ? तो राजा बोला हां आ गया समझ में । तो जब दुःख आ पड़ता है तो सब समझ में आ जाता है । आराम में मौज में सुख में रहते हुए विषयों के साधन मिलते हुए में धर्म की बात तनिक देर में समझ में आती है ।

रागियों का संकट में धर्म की ओर ख्याल – भैया यहां धर्म करने की इच्छा ही कहां होती है। संकट हो, कष्ट हो तब धर्म की भावना होती है । बिरले ही ज्ञानी विवेकी पुरुष होते हैं ऐसे जो कि सुख सामाग्री की स्थिति में भी धर्म का बड़ा ध्यान रखते हैं, अन्यथा तो ये सब कष्ट ही समझते हैं अच्छे मार्ग में चलने को । गुरुजी ने एक कथा सुनाई थी कूंजड़ी की । राजा कहीं जा रहा था, बाजार में कहीं कूँजड़ी की लड़की बैठी थी, तो राजा के मन में आया कि इस लड़की के संग शादी करनी चाहिए । राजा ने भेजे दो चार मंत्री अफसर आदि कूँजड़ी के घर । कूँजड़ी से उसकी लड़की के लिए कहा कि राजा शादी करना चाहता है । तो उसने कहा कहां से आये अड़वों के भड़वे । कई गालियां उसने सुनाई । दूसरी बार भी राजा ने सिपाहियों को भेजा तो फिर उसने गालियां सुनाईं । एक बार एक छोटा सिपाही राजा के पास गया, बोला महाराज क्यों चिंता करते हो ? तो राजा ने सारी कहानी सुनाई । सिपाही बोला कि यह कौन सी बड़ी बात है, हम शादी करवायेंगे । सिपाही ने जाकर उस कूँजड़ी को घसीटा पीटा । कूंजड़ी हाथ जोड़कर कहती है कि अरे भड़वे बात तो बताओ । तो सिपाही ने कहा कि तुझे अपनी लड़की की शादी राजा के साथ करनी है । तो वह कूंजड़ी कहती है कि पहिले इस तरह से क्यों किसी भड़वे ने न समझाया तो ये जगत् के जीव लौकिक सुखी होकर भी शान्तिसमृद्धि में नहीं है । इनके तो जब कोई संकट सिर पर आता है तभी थोड़ा ख्याल होता है कि धर्म करना चाहिए ।

न मैं को मैं मानने की दुर्बुद्धि – इतना व्यामोह है इस शरीर के साथ मुग्ध प्राणी का कि यह शरीर से भिन्न अपने आपके स्वरूप को समझता ही नहीं है । किसको "मैं" बोल रहा है यह बहिरात्मा पुरुष ? इसे अन्तर की दृष्टि तो है ही नहीं । किसको "मैं" कह रहा है यह ? कल्पनाओं की उत्पत्ति का जो स्रोत है उसकी तो खबर नहीं है और जो इसकी प्रतीति में और दृष्टि में आ रहा है उसके कल्पना होती नहीं । तो कौन बोल रहा है कि मैं आया, मैं आऊंगा, यह मैं हूं । कोई आधार नहीं है । सब मायारूप है । शरीर को भी वह मैं नहीं कहता, आत्मा को भी मैं नहीं कहता । शरीर शरीर है, ऐसा जानकर वह मैं नहीं बोल रहा है। इस शरीर को और आत्मा को एकमेक निरखकर फिर वह बोलता है कि यह मैं हूं, यह मैं आया – ऐसा मैं मैं चिल्लाता है । उसका क्या परिणाम है ? कष्ट ही कष्ट है ।

स्वगुप्ति – अरे भैया ! न होते आज हम आप लोग इस मनुष्यभव में तो इस मुझ के लिए यहां के राग रंग ये कुछ भी न थे । अब सुयोगवश यह मनुष्यभव मिला तो इसका ऐसा ही लाभ लूट लो कि मेरे लिए यहां पहिले भी कुछ न था और अब भी कुछ नहीं है । योग्यता पायी है तो अपने में गुप्त रहकर, अपने इस गुप्त स्वरूप की उपासना करके गुप्त ही अपना गुप्त कल्याण कर लें, ऐसी भावना अन्तरात्मावों के हुआ करती है । शरीर के धर्म को आत्मा के साथ न जोड़कर केवल ज्ञानस्वरूपमात्र अपने आपको विचारने से ये सब समृद्धियां स्वत: उत्पन्न हो जाती है ।

श्लोक 71

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृति: ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृति:॥७१॥

जिस पुरुष के चित्त में अचल आत्मा की अचल धारणा रहती है उसको मुक्ति की प्राप्ति नियम से होगी, किन्तु जिसे इस अचल आत्मा की अचल धारणा नहीं रहती उसकी मुक्ति नहीं है । आत्मा का स्वरूप अचल है, प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप अचल है । जो पदार्थ जिस असाधारण गुणस्वरूप है वह उस स्वरूप को त्रिकाल त्याग नहीं सकता । स्वरूप से स्वरूपवान् भिन्न पदार्थ नहीं है। जैसे गरमी से अग्नि कुछ भिन्न नहीं है, गरमी निकल जाय कदाचित् तो इसका अर्थ यह होगा कि आग ही खत्म हो गयी । इसी तरह पदार्थ का जो असाधारण स्वरूप है वह स्वरूप निकल जाय तो इसका अर्थ यह हो गया कि पदार्थ ही नहीं रहा । आत्मा का

असाधारणस्वरूप है चैतन्यभाव । यह आत्मा चित्स्वरूप है । जैसा है वैसा बताने की जो पद्धति है वही असाधारणस्वरूप कहलाता है ।

प्रत्येक पदार्थ साधारण गुण से भी युक्त है और असाधारण गुणों से भी युक्त है । कुछ भी वस्तु यदि है । तो उसमें ६ बातें अवश्यंभावी है, प्रथम तो वह "है" । दूसरी बात वह अपने स्वरूप से हैं पर के स्वरूप से नहीं है । तीसरी बात वह निरन्तर परिणमता रहता है । चौथी बात वह अपने में ही परिणमता है दूसरे पदार्थ में नहीं परिणमता है । ५ वीं बात वह पदार्थ है ना तो किसी न किसी आकार को लिए हुए रहता है और छठी बात यह है कि वह पदार्थ किसी न किसी के ज्ञान में आ ही रहा है । इन ६ बातों में से कोई भी एक गुण न हो तो इसका अर्थ यह है कि वह पदार्थ ही कुछ नहीं है ।

अस्तित्व और वस्तुत्वगुण का प्रसाद – जैसे चेतन आत्मा को ही उदाहरण में लो, इसके चैतन्यस्वरूप पर अभी दृष्टि न दो किन्तु इसका अस्तित्त्व ही सिद्ध करना है – इतना ही प्रयोजन रक्खो तो इस आत्मा के बारे में देखते ही होगे कि यह आत्मा है, इसमें अस्तित्त्व है। यह सद्रूप है और फिर यह आत्मा अपने स्वरूप से है पर के स्वरूप से नहीं है । यह अपने ही गुण से है पर आत्मा के गुण से नहीं है और समस्त अचेतन पदार्थों के स्वरूप से नहीं है ऐसी दूसरी बात भी इस आत्मा में होती है । यदि यह दूसरा गुण न हो तो आत्मा का अस्तित्त्व ही क्या रह सकता है अर्थात् यह आत्मा पर के स्वरूप से हो अथवा अपने स्वरूप से न हो तो आत्मा क्या रहा ? आत्मा तो पुद्गल आदिक पर के स्वरूप से भी बन गया, अब कहां आत्मा रहा और स्वरूप से न हो तो आत्मा ही क्या ? इसमें यह दूसरी बात होनी भी आवश्यक है ।

द्रव्यत्व और अगुरुलघुत्व गुण के कारण ध्रौव्यव्यवस्था – तीसरी बात है आत्मा प्रतिक्षण परिणमता रहता है । यदि यह गुण न हो तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपरिणामी है । जैसे कि अन्य लोग मानते हैं कि आत्मा में कभी कुछ भी परिणमन नहीं होता है । जिसमें परिणमन न हो, वह सत् ही नहीं है । कौन सा पदार्थ ऐसा है कि जो न बनता हो और न बिगड़ता हो और रहता अवश्य हो । ऐसा एक भी उदाहरण दो । प्रत्येक पदार्थ अपनी नवीन पर्याय बनाते हैं और पुरानी पर्याय का व्यय करते हैं । इसके आत्मा में परिणमनशीलता का होना भी आवश्यक हुआ । चौथी बात है कि यह आत्मा अपने ही स्वरूप में परिणमता है, पर के स्वरूप में नहीं परिणमता है । यदि यह बात न मानी जाए तो इसका अर्थ यह होगा कि आत्मा पर के स्वरूप से भी परिणमेगा । यदि यह जीव किसी शरीर आदिक के स्वरूप से भी किसी अन्य धन सम्पदा आदिक के स्वरूप से भी परिणमें तो फिर यह आत्मा क्या रहा ? इस कारण यह चौथा गुण भी सब पदार्थों में आवश्यक है ।

प्रदेशवत्त्व व प्रमेयत्त्व गुण के कारण वस्तुसिद्धि – ५वीं बात कही गयी है कि आत्मा का कोई न कोई आकार है । यदि आकार न हो तो किसी पदार्थ के अस्तित्त्व की कल्पना ही नहीं बन सकती है । मनुष्य तो हो, पर उसका आकार कुछ न हो, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई कुछ न हो तो ऐसा भी बिना आकार का कोई मनुष्य है क्या ? पदार्थ है तो उसमें आकार अवश्य है । आकार बिना आत्मा में अस्तित्त्व नहीं है । छटवीं बात क्या है ? किसी न किसी ज्ञान के द्वारा वह प्रमेय है । कोई न कोई उस पदार्थ को जानता ही है । कल्पना करो कि कोई पदार्थ क्या ऐसा होगा, जो किसी के भी द्वारा ज्ञान में नहीं आ सकता है ? प्रथम तो यह आपत्ति है कि उस पदार्थ का अस्तित्त्व ही कौन समझेगा ? जब किसी के ज्ञान के द्वारा किसी भी प्रकार प्रमेय ही नहीं है तो कौन जानेगा ? दूसरी आपत्ति यह है कि ज्ञान का तो स्वरूप ही कुछ न रहा । ज्ञान उसे कहते हैं कि जो जान जाये । किसे जान जाये ? जो हो उसे जान जायें । ज्ञान में यह सार्मथ्य है कि जो कुछ भी सत् है उसे यह ज्ञान जान लेता है । यदि कुछ पदार्थ सही हो मगर ज्ञान में ज्ञात न हो तो उसका अर्थ यह है कि ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है । यों अनेक युक्तियों से यह बात सिद्ध है कि प्रत्येक पदार्थ प्रमेय भी अवश्य है । ये ६ साधारणगुण सब पदार्थों में रहते हैं ।

असाधारणगुण से वस्तुस्वरूप प्रकाश – भैया ! साधारणगुणों को समझ लेने मात्र से पदार्थ का स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ । यों तो सर्व एक सत्‌रूप हुए । यहां अर्थक्रिया नहीं उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सर्व एक सत्‌रूप होते हों—ऐसा नहीं । विशेषधर्म के बिना सामान्यधर्म कहलाता ही नहीं है । जैसे कोई न बालक हो, न जवान हो, न बूढ़ा हो और हो मनुष्य तो क्या ऐसा कोई है ? नहीं है, लेकिन विशेष अवस्था उसकी अवश्य है । विशेष अवस्था बिना सामान्य बात आ ही नहीं सकती है । यों तो प्रत्येक पदार्थ अपने विशेषस्वरूप को लिए हुए है । आत्मा में वह विशेषस्वरूप चैतन्य है । अब आइए चैतन्यस्वरूप तक ।

अचल की अचल धृति – यह आत्मा का चैतन्यस्वरूप अचल है । यह कभी चलायमान् नहीं हो सकता । अनादिकाल से अब तक यह जीव शरीर से और कर्मों से संयुक्त चला आया है, फिर भी आत्मा न शरीररूप हुआ, न शरीर आत्मारूप हुआ । आत्मा चेतन ही रहा, शरीरादिक अचेतन ही रहे । यों आत्मा का चैतन्यस्वरूप त्रिकाल भी छूटता नहीं है । ऐसे इस अचलस्वरूपवान् आत्मतत्त्व की जो अचल धारणा रखते हैं, उन पुरुषों की मुक्ति अवश्य है । मुक्ति का मतलब है संकटों से छूट जाना । जिनको अपने अचलस्वरूप की सुध है, वे संकटों से कभी अवश्य छूट जायेंगे । यह आत्मा चैतन्यस्वभावी अपनी अतीत समस्त पर्यायों को चैतन्यात्मकता से रचे हुए बनाये था और चैतन्यात्मता से रचे हुए अपनी पर्यायों को बनावेगा। अन्य अचेतनों से इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है । यों सबसे ही विविक्त स्वतन्त्र अपने स्वरूपास्तित्त्वरूप आत्मा को जो अपनी धारणा में लेता है, उसके संकट अवश्य छूट जाते हैं ।

अरे अभी इतना ध्यान में लाये कि मेरा स्वरूप अचल चैतन्यमय है, इसका किसी अन्य पदार्थ से रंच भी संबन्ध नहीं है – ऐसे विविक्त आत्मतत्त्व के दर्शन से यही अन्दाज कर लो कि सारे संकट समाप्त हो जायेंगे ।

व्यामोही की कल्पित शान – यह व्यामोही जीव बाह्यपदार्थों के संग्रह में, व्यामोह में अपनी शान समझता है और उसी में सारा यत्न लगाते रहने पर तुला हुआ है । है क्या उसमें ? रंच भी सार नहीं है । प्रथम यह बतलाओ कि किसको प्रसन्न करने के लिए, किसे राजी रखने के लिए इतनी मन, वचन, काय की चेष्टाएँ की जा रही हैं ? ये कुछ सारभूत नहीं हैं ।

सबको प्रसन्न करने की चेष्टा का व्यामोह – एक सेठ जी थे । उसके चार लड़के थे, ५ लाख की जायदाद थी । बड़े आराम से सबको एक एक लाख रुपये बांट दिये । खुद भी एक लाख रुपया ले लिया । अब सेठ ने चारों लड़कों को बुलाया और कहा कि देखो बेटा ! अपन लोग बड़े आराम से न्यारे हो गये । कोई अड़चन नहीं पड़ी । अब इस खुशी में अपनी बिरादरी के लोगों को जीवनवार कर दो । बेटों ने कहा कि अच्छा पिताजी । सबसे पहिले छोटे लड़के ने अपने बिरादरी के लोगों की जीवनवार की । तो उसने सात आठ प्रकार की मिठाइयां बनवायी थीं । बिरादरी के लोग खाते जायें और परस्पर में कहते जायें कि मालूम होता है कि सेठ जी ने इस छोटे लड़के को सबसे ज्यादा धन दे दिया है, तभी तो खुश होकर इसने सात आठ मिठाइयां बनवायी हैं । लो उसने खिलाया पिलाया, फिर भी उन बिरादरी के लोगों ने इतनी-इतनी बातें कहीं । उसके बाद दूसरे लड़के ने सब बिरादरियों को जीवनवार दिया तो उसने दो ही मिठाई बनवायीं । बिरादरी के लोग खाते जायें और परस्पर में बातें करते जायें कि यह लड़का बड़ा चालाक निकला । इसने तो दो ही मिठाई खिलाकर टरका दिया । इसने छोटे लड़के से भी ज्यादा धन रख लिया होगा । अब उसके बाद तीसरे लड़के ने जीवनवार किया तो उसने मिठाई का नाम ही न रक्खा । सीधे दाल साग पूड़ियां बनवाईं । तो बिरादरी के लोग खाते जायें और कहते जायें कि यह लड़का तो उन दोनों से भी चालाक निकला, इसने तो मिठाई का नाम ही नहीं रक्खा, रख लिया होगा उन दोनों से ज्यादा धन । अब सबसे बड़े चौथे लड़के ने पंगत की तो उसने पक्की चीज का नाम ही नहीं रक्खा सीधे दाल, चावल, कढ़ी आदि बनवाया । तो बिरादरी के लोग जींवते जायें और कहते जायें कि यह तो सबसे बड़ा लड़का है, इसी के हाथ में चाभी रहती थी । इसी का सारा जाना हाल है । सबसे ज्यादा धन इसी ने रख लिया होगा, मगर इसने पक्की चीज का नाम भी नहीं लिया ।

तृष्णा में शान्ति की अपात्रता – भैया ! एक दृष्टि की बात कह रहे हैं । घर-घर में पड़ौस-पड़ौस में कषायों की अपनी-अपनी विभिन्नताएं हैं । किस-किसको प्रसन्न करने के लिए मन, वचन, काय की चेष्टाएं की जा रही हैं । कुछ अपनी सुध लो, धन से श्रद्धा हटावो, धन से बड़प्पन है,

इससे ही जीवन है ऐसी श्रद्धा को बिल्कुल दूर करो । जब कीड़ा मकौड़ा जानवर पशुवों के भी अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार उनका भी जीवन चलता है तो हम आप लोगों को क्या सुविधा न होगी ? अच्छा बतावो तो सही कि कितना धन मिल जाय तो फिर आगे तृष्णा न रहेगी ? कोई नाम लेकर तो बतावो । भले ही कोई आज अपनी परिस्थिति को देखकर उससे चौगुनी बात कह लेगा कि इतना धन हो जाय तो फिर हम कुछ भी तृष्णा न करेंगे, आगे की आशा न रक्खेंगे, किन्तु कदाचित् हो जाय उतना धन, तो तृष्णा और बढ़ जाती है । एक उक्ति में कहते हैं "तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा ।" तृष्णा जीर्ण नहीं हुई किन्तु हम लोग ही जीर्ण हो गए, अपना ही बुरा हो गया, पर तृष्णा नहीं मर सकी । तो जिसको बाह्यपदार्थों में तृष्णा लगी हुई है वह पुरुष कैसे मुक्ति का पात्र हो सकता है ?

अपना प्रयोजन – भैया ! शांति के अर्थ का यह कर्तव्य है कि हम सबसे भिन्न विविक्त अपने आपके आत्मतत्त्व को निहारें । साधुजनों को तो केवल एक अपने उद्धार का ही काम पड़ा हुआ है और गृहस्थजनों को मान लो, दो काम पड़े हैं, अपनी आजीविका बनाना और उद्धार का काम करना । धर्म धारण करना, इतना ही तो काम है । एक जीव की जीविका और दूजे जीव उद्धार । कहां विडम्बना है गृहस्थ को भी, कुछ विडम्बना नहीं है, परन्तु न सही ढंग में आएँ और अपने को विपत्तियों में जानबूझकर डालें तो उससे तो आकुलता न मिटेगी । उसको नियम से मुक्ति प्राप्त होगी जिसके चित्त में इस अचल चैतन्यस्वरूप अंतस्तत्त्व में अचल श्रद्धा है । मैं केवल जाननमात्र हूं—ऐसी श्रद्धा है तो ऐसी श्रद्धा में मुक्ति नियम से होने वाली है किन्तु जिसको अपने आत्मस्वरूप की भावना ही नहीं है, जिसको जो कुछ बतावो वैसा ही मान ले या अपने मन से इस शरीर को ही निहार कर आत्मा मान ले तो ऐसे चखायमान् चित्त में मुक्ति की बात संभव नहीं हो सकती है । इसलिए एक ही निर्णय है मुक्ति चाहते हो तो इस सहज चैतन्यस्वरूप की प्रतीति करो, और यदि इस आत्मस्वरूप की धारणा नहीं हो सकती है, शरीर को आपा माने, घर के वैभव को अपना मान ले, मैं कुछ अपना नाम कर जाऊं, ऐसी भावना है तो मुक्ति नहीं हो सकती है, यह पूर्ण नियम है ।

एक साधे सब सधे – एक इस आत्मतत्त्व को साध लीजिए तो समृद्ध हो जावोगे । एक इस अंतस्तत्त्व की रुचि होने पर भी यदि अवशिष्ट राग वश बंध होता है तो पुण्यबंध होता है जिसके उदय के काल में सर्व वैभव आता है । जिसको इस अंतस्तत्त्व की रुचि है उसके ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि भव भव के बांधे हुए कर्म भी क्षण मात्र में एक साथ खिर जाया करते हैं । लौकिक आनन्द और पारलौकिक आनन्द इस सहज आत्मतत्त्व की दृष्टि में भरा हुआ ही है । एक हिम्मत की आवश्यकता है और हिम्मत भी कुछ नहीं, उल्टा जितना चल चुके हैं उतना लौटने की आवश्यकता है । करना कुछ नहीं है । जो खोटा कर्म किया है, जो खोटा कदम बढ़ाया है बस

उतना लौटने की जरूरत है । इससे आगे और कुछ भी काम करना इसे आवश्यक नहीं है । यों समझो कि स्वतंत्र निश्चल निष्काम आत्मतत्त्व के श्रद्धान में, आचरण में, सर्व प्रकार की सिद्धि स्वयमेव पड़ी हुई है – ऐसा समझकर एक आत्मस्वरूप के जानने की रुचि करें, अभ्यास करें तो उस पुरुषार्थ के प्रताप से सर्वसमृद्धि हो सकती है ।

मुक्ति का अपरनाम आत्मोपलब्धि – किसी भी तत्त्व का वर्णन विधि और निषेध इन रूपों में हो सकता है । इस प्रकरण में मुक्ति की बात कही जा रही है तो मुक्ति शब्द निषेधपरक शब्द है आत्मोपलब्धि शब्द विधिपरक है । बात एक है चाहे आत्मोपलब्धि कहो, चाहे सर्वथा निर्लेप निष्कलंक विशुद्ध विकास कहो या मुक्ति कहो । मुक्ति का अर्थ है छुटकारा पाना अर्थात् जो अन्य चीजें साथ लगी थीं उनका प्रतिषेध हो जाना, दूर हो जाना और आत्मोपलब्धि का अर्थ है जैसा सहज आत्मस्वरूप है वैसा विकसित हो जाना ।

आत्मोपलब्धि का मार्ग –आत्मविकासरूप कार्य की सिद्धि किस प्रकार होती है इस सम्बन्ध में एक मुख्य सूत्र है 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और समयक्चारित्र काएकत्त्व मोक्ष का मार्ग है । सम्यग्दर्शन का अर्थ है आत्मा का यथार्थ विश्वास । सम्यग्ज्ञान का प्रयोजन है यथार्थ सहज आत्मा का परिज्ञान और सम्यक्चारित्र का मतलब है ऐसे ही विशुद्ध आत्मस्वरूप में रम जाना । विश्वास, ज्ञान और चारित्र इन तीनों बिना किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती है । लौकिक कार्यों को ढूँढ़ लो, जैसे रसोई बनाना है तो रसोई बनाने की बात भी विश्वास ज्ञान और आचरण बिना नहीं हो सकती है । विश्वास है कि इस तरह रसोई बन जायेगी और ज्ञान है कि इस विधि से इस चीज से रोटी बनती है । जो विधि उसे ज्ञात है वैसा कर लेगा तो रोटी बन जायेगी । किसी को ऐसी शंका तो नहीं होती कि आज आटे से रोटी बनेगी अथवा न बनेगी । कोई यह तो नहीं सोचता कि आज कहो रेत से रोटी बन जाये । तो श्रद्धान् बिना कार्य की सफलता हो ही नहीं सकती ।

यथार्थ के अविश्वास में यथार्थ की असिद्धि – एक ठाकुर साहब एक जगह बैठे हुए थे । उनके पास एक बनिया भी बैठा था । बंदूक लिए हुए थे ठाकुर साहब । बनिया की तरफ बंदूक कुन्दा था और उसकी नली दूसरी तरफ थी, जिस ओर कोई भी न बैठा था । वह बनिया बोलता है कि ठाकुर साहब यह बन्दूक अलग रख दीजिए । ठाकुर साहब ने कहा क्यों ? बनिये ने कहा कि कहीं ऐसा न हो कि गोली निकल भागे । ठाकुर साहब बोले कि तुम्हारी तरफ तो बन्दूक की नली भी नहीं है, फिर गोली कैसे निकल भागेगी ? बनिये ने कहा कि सौ बार नली से गोली निकल जाती है, कहीं एक बार इस कुन्दे से गोली निकल भागे तो । सो आप इसे अलग ही रख दीजिये । तो इस प्रकार के भी अविश्वासी पुरुष होते हैं । ऐसी ही तो कोई अविश्वासी महिला हो तो क्या रसोई बन सकती है ? आटा भी धर दे, विश्वास भी हो, पर उसकी विधियों

का ज्ञान न हो तो चीज कैसे बन सकती है ? ज्ञान भी हो, करे कुछ नहीं और देखती रहे तो क्या रोटी बन जायेगी ?

विश्वास, ज्ञान व आचरण के बिना लौकिककार्य की भी सिद्धि का अभाव – भैया, विश्वास, ज्ञान और आचरण बिना कोई लौकिक काम नहीं होता है । चाहे व्यापार का काम हो, उसमें भी विश्वास, ज्ञान और व्यापार विषयक आचरण चाहिये । पाप का काम करना हो तो उसमें भी पाप का विश्वास, ज्ञान और वैसी ही कोशिश होनी चाहिये । उसमें प्रवृत्ति हो जायेगी, पर वह है मिथ्या । भला ज्ञान करना हो तो भली बात में भी विश्वास, ज्ञान, आचरण चाहिये । यदि आत्मा की उपलब्धि करना है तो उसका भी विश्वास, ज्ञान और आचरण चाहिये । जो स्वभावत: सहज जैसा है, वैसा जानना अति आवश्यक है, क्योंकि मुक्ति होने पर हम क्या रह जायेंगे, इसका ही पता न हो तो मुक्ति का उद्यम ही क्या करेगा कोई ? किसे छूटना है, किससे छूटना—यह कुछ पता ही न हो और बहुत सी बकवाद करता फिरे तो किसी की भी तो मुक्ति नहीं हो सकती है । ऐसे ही यथार्थज्ञान बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती है और आचरण बिना भी मुक्ति नहीं हो सकती है ।

यथार्थ विश्र्वास व ज्ञान के बिना आचरण से कार्यसिद्धि का अभाव – मान लो, न विश्वास है, न सही । वस्तु का ज्ञान है और आचरण भी कर लिया जाये तो उससे कार्य की सिद्धि नहीं होती है । जैसे एक पुरानी घटना सुनते आये हैं कि किसी समय ललितपुर में उधार का बड़ा व्यापार चलता था और कहावत भी प्रसिद्ध है कि "झांसी गले की फांसी, दतिया गले का हार। ललितपुर तब तक न छोड़ो, जब तक मिले उधार ।" सो कुछ देहातों के बजाज लोग ललितपुर के बाजार के लिये चले जा रहे थे । जाड़े के दिन थे । जंगल में शाम हो गयी और वहीं ठहर गये । वहां ठण्ड लगी तो चारो तरफ से जरेटा बाड़ आदि बीनकर ले आए और एकत्रित कर चकमक से आग जलाकर आग में जरेठा बाड़ आदि डाल दी, फिर उसमें फूंक मार कर वहीं हाथ पैर पसारकर बैठ गये । रातभर उन्होंने तापा और सुबह चल दिये । ये सारे काम उस पेड़ पर चढ़े हुए बन्दर देख रहे थे । अब दूसरी रात आई तो बन्दरों ने सोचा कि इतने ही हमारे आपके जैसे हाथ पैर उन मनुष्यों के भी थे, उन्होंने जैसा जाड़ा मिटा लिया था, वही काम अपन भी करें तो अपन लोग भी जाड़ा मिटा सकेंगे । बन्दर तो बड़े ही फुर्तीले होते हैं, सो दौड़-दौड़कर इधर-उधर से खूब जरेठे बाड़ आदि एकत्रित कर ली ।

भैया ! अब भी जाड़ा न मिटा तो उनमें एक बन्दर बोला कि ऐसे जाड़ा कैसे मिटे ? अभी तो इसमें लाल लाल चीज तो डाली ही नहीं । लाल–लाल चीज लाने के लिये उसकी खोज में चले । वहां बहुत से पटबीजने उड़ रहे थे, उन्होंने कुछ पटबीजने पकड़कर उस ढेर में डाल दिये । इतने पर भी जाड़ा न मिटा तो एक बन्दर बोला कि उन लोगों ने उसे मुख से फूंका भी था ।

बिना इसके फूंके जाड़ा कैसे मिटे ? सब बन्दरों ने फूंका भी, पर जाड़ा न मिटा । एक बन्दर बोला कि अरे बेवकूफों ! जाड़ा ऐसे कैसे मिटेगा ? वे मनुष्य तो हाथ पैर फैलाकर यों बैठे भी थे । इन्होंने ऐसा भी किया, पर जाड़ा न मिटा । तो यों आचरण तो सब कर लिये, पर ठण्ड न मिटी । यों ही समझो कि जिन्हें आत्मतत्त्व का परिचय नहीं हुआ है और देखे दिखाये अथवा बड़े पुरुषों द्वारा सुने हुए की अभिरुचि से धर्म के नाम पर सब कुछ भी कर डालें, जेसे कि बड़े पुरुष किया करते हैं, इसी प्रकार यदि हम आप तप, व्रत, संयम और परित्याग आदि बातें भी कर डालें तो भी अन्तस्तत्त्व के परिचय के बिना मुक्ति का मार्ग कहां से प्राप्त होगा ?

अन्तस्तत्त्व के अपरिचय से क्लेशों का विस्तार – भैया ! जिसे निजसहजअन्तस्तत्त्व का परिचय है, वे पुरुष गृहस्थावस्था में भी रहते हुए अपने पद के अनुकूल शान्ति के मार्ग पर चल रहे हैं । मोक्ष का मार्ग कहो अथवा शान्ति का मार्ग कहो । कहां है अशान्ति समयग्ज्ञान में ? कोई विकल्प हो, कष्ट हो, यदि ऐसी दृष्टि हो जाये कि मैं आत्मा तो ज्ञानमात्र हूं, इससे आगे मेरा कुछ नहीं है । तो वहां संकट कहां रहेगा ? संकट तो यह मुफ्त में मोल लिये हुए हैं । वास्तव में बात कुछ और है, मिथ्याधारण, विकल्प, अहंकार व ममकार जो बनाये हैं, उनके कारण क्लेश हैं और फिर इनका विस्तार क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—ये सब भी अहंकार और ममकार के विस्तार हैं । सो इन चक्रों में भी फंसना पड़ता है । किसी का भी तो गुजारा इस प्रकार की सच्ची बात की परख बिना नहीं चल सकता ।

शान्ति की प्राप्ति का एक ढंग – साधु हो तो क्या ? गृहस्थ हो तो क्या ? सुख-दुःख का ढंग सबका एक सा है और आनन्द पाने का ढंग भी एकसा है । जैसे सभी जातियां भिन्न-भिन्न हैं—हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन पर यह तो बताओ कि उत्पन्न होने और मरने का ढंग भी जुदा-जुदा है क्या ? ऐसा तो नहीं है । मूल में देखो तो सबमें एक सी बातें गुजरती हैं । ऐसे ही संसार और मुक्ति का भी यह सब उत्तर है । शांति और संतोष का भी यही उत्तर है । शान्ति का मार्ग केवल एक यही है, जैसा कि यह आत्मा अपने आप परमार्थस्वरूप है, उसकी झलक हो जाये और इतना ही मात्र मैं हूं – ऐसा विश्वास बन जाये तो शान्ति का मार्ग मिलेगा । गृहस्थ को भी यह चाहिये, साधु को भी यह चाहिये, इसके बिना शांति किसी को नहीं मिल सकती है । इससे इस अचलआत्मा का अचलविश्वास होना चाहिये, इससे ही मुक्ति का मार्ग है ।

हितमार्गगमन का अनुरोध – भैया ! इस आत्मा का यथार्थ विश्वास न हो, अपेन स्वरूप पर दृष्टि कम हो, व्यर्थ के मोह के कचड़े में अमूल्यजीवन गँवा दिया तो भविष्यकाल में दुर्गति ही होगी । क्या बीतेगा ? सोच लो, वही बात इसके फल में पाता रहेगा । सो अमूल्यजीवन में लाभ पाना है तो अपना आचरण सत्य बनाओ । धन जोड़ना, सम्पदा के पीछे अपना ईमान खोना, दूसरों पर अन्याय करने का भाव करना और अपने को सुखी समझकर, बड़ा समझकर अपने को

स्वच्छन्द बनाना आदि से तो केवल दुर्गति ही मिलेगी । परिग्रह से दूर रहो, कुशील से दूर रहो, अहिंसा का आदर करते हुए, अपनी उपासना का परिणाम रखते हुए सदाचार से रहें तो जो उत्तम संस्कार पा लिया जायेगा, वह साथ जायेगा । दुराचार से रहें तो खोटी वासना प्राप्त होगी और खोटा संस्कार प्राप्त होगा, वह खोटा संस्कार साथ जायेगा । इसलिये बड़े चेत की जरूरत है । विवेक की ऐसी भावना करने वाले पुरुष का जन्म सफल है ।

श्लोक 72

जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

ज्ञानयोग की सिद्धि के लिये जनसंसर्ग का निषेध – पूर्व श्र्लोक में यह कहा गया था कि जिस पुरुष के निजआत्मतत्त्व को अचलस्वरूप की अचल धारणा रहती है, उसकी मुक्ति होती है । उस अचलस्वरूप की अचलधारणा कैसे हो ? इस संबन्ध में एक उपाय बताया जा रहा है कि जो योगीपुरुष आत्मस्वरूप का अचल अवलोकन करता है, उसे मनुष्यों के साथ सम्पर्क को छोड़ना चाहिये और संसर्ग न छूट सके, हो कोई स्थिति तो मनुष्यों के संबन्ध से रहित समस्त परपदार्थों के सम्पर्क से रहित ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को निरखकर यह अनुभवना चाहिये । इसका किसी के साथ कुछ भी संबन्ध नहीं है ।

जनसंसर्गपरिहार की आवश्यकता – जनसम्पर्क का त्याग इसलिए किया जाता है कि यदि मनुष्यों का सम्बन्ध रहता है तो वचनालाप भी कुछ करना पड़ता है, जहां वचनों का आदान-प्रदान हो, वहां फिर मन में व्यग्रता होने लगती है । मन में, चित्त में अनेक प्रकार के विकल्प क्षोभ उठने लगते हैं । जहां क्षोभ है, वहां शान्ति कहां है ? यह संसार विकट गोरखधंधा है । मोह के उदय में इस प्राणी को सम्पर्क बढ़ाने की ही सूझती है । चेतन अथवा अचेतन पदार्थों का संचय जितना अधिक हो उतना ही तो मेरा भी बड़प्पन है, उससे ही मुझे ये सारे सुख प्राप्त होंगे । इस प्रकार की भ्रमपूर्ण धारणा बनी हुई है, इन भ्रान्त धारणाओं के विषयभूत जनसंसर्ग के परिहार में ही आत्मकल्याण है ।

मायामयों में व्यवहार – यह संसार है क्या ? मोह नींद के स्वप्न में देखा जाने वाला दृश्य है । कुछ भी यथार्थ नहीं है । जो पुरुष इस लोक में अपना बड़प्पन चाहते हैं, अपनी कीर्ति चाहते हैं तो प्रथम तो वह पुरुष ही अनित्य है, मायामय है और जो पुरुष बड़प्पन चाहते हैं, वे पुरुष भी तो मायामय हैं, अनित्य हैं और जो बड़प्पन चाहा जा रहा है, वह बड़प्पन भी मायामय है,

अनित्य है और उसकी चाहरूपी तरंग भी मायामय है, अनित्य है । देखो तो कैसा विकट अचम्भा घट रहा है कि यह मायमय अनित्य पुरुष मायामय अनित्य पुरुषों में, मायामय अनित्य कल्पित बढ़प्पन की मायामय अनित्य चाह कर रहा है । कुछ भी तो सार नहीं है, लेकिन जिसको अपने अपरिणामी शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व की सुध नहीं है, उसे ये पञ्चेन्द्रिय के विषयों के साधन और मन के विषयों के साधन महान् लगेंगे और जहां इतनी तृष्णा बनी, फिर वहां शान्ति समाप्त हुई है ।

कामनारोग व उसके चिकित्सक – भैया ! कामना रोग के रोगी सभी संसारी जीव हैं, इसलिए इस रोग की आलोचना समालोचना नहीं हो पा रही है । सभी उस मोह में डूबे हुए हैं । मोही मोहियों में दोष कहां देख सकते हैं ? इसी कारण यह सारा मानवसंसार धन परिग्रह, नेतृत्व इनके बढ़ाने की होड़ में लग रहा है, किन्तु अपने पुराणपुरुषों की नीति को तो देखो कि चक्री से भी महान् वैभवशाली महापुरुषों ने भी आखिर उस सब वैभव को त्यागकर जब अपने आपको आकिन्श्चन्यरूप में देखा, तब शान्ति पाई ।

लौकिक जनसम्पर्क की कल्याणबाधकता – यह जनसम्पर्क आत्मयोग के अभ्यास में बाधक है । यह ज्ञान ज्ञानरूप रहे, शुद्ध आनन्द का भोक्ता रहे, इसमें बाधा देने वाला निमित्तरूप में यह जनसम्पर्क है । जो आत्मस्वरूप में स्थिरता की चाह रखते हैं, उन्हें चाहिये कि वे लौकिक जनों के संसर्ग से अपने को प्राय: अलग रक्खें । जो पुरुष लौकिकता से परे हैं, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हैं, आत्मकल्याण के इच्छुक हैं—ऐसे पुरुषों का संसर्ग तो इनके कल्याण में कदाचित् साधक है, पर जो मोहीपुरुष हैं, लौकिक जन हैं, अज्ञानअन्धकार में भूले भटके हुए हैं, एक इस दृश्यमान मायामय पर्याय को ही जो यथार्थ सर्वस्व समझते हैं-ऐसे पुरुषों का संसर्ग तो क्षोभ का ही कारण होता है ।

मोहियों के संग का दुष्प्रभाव – आजकल प्राय: लोगों में धर्म की उत्सुकता क्यों नहीं जगती है ? इसका कारण यह है कि कुछ थोड़ा सोने का समय और एक आध घण्टा व्यवहार धर्म की चर्या को छोड़कर शेष रात-दिन सर्वसमय मोहियों के संसर्ग में ही लोग रहा करते हैं । दूकान पर बैठें तो वहां भी मोहियों का झमेला है । रात दिन मोहियों का ही संसर्ग बना रहता है । एक आध घण्टा मन्दिर में, स्वाध्याय में अथवा व्याख्यान आदि सुनने में समय लगा भी तो यह आध घण्टे का समय क्या प्रभाव डालेगा ? जब सारा संसर्ग इतना दूषित है तो यह थोड़ा सा सत्संग प्रभावहीन हो जाता है । इससे इस ओर दृष्टि देना चाहिये कि हमारा सत्संग निवास तो बढ़े और लौकिक जनों का संसर्ग कम हो । यदि ऐसा पुरुषार्थ किया, दृष्टि बनाई तो क्रम से धीरे-धीरे शान्ति का विकास हो जायेगा अन्यथा वही अशान्ति है ।

लौकिक जनसम्पर्क व वाग्व्यवहार से विपत्ति – लौकिकजन जहां भी एकत्रित हुए हों, वहां परस्पर में कुछ न कुछ वाक् जंजाल लगता ही है । कभी मौनपूर्वक बैठने के लिये लौकिक जनों का सङ्ग नहीं हुआ करता है । वह बोलना अनाप-सनाप सरलतारहित मजाक और पीड़ाकारी बर्तवों से भरा हुआ, दूसरों को तुच्छता की निगाह से देखता हुआ वचनालाप हुआ करता है । जहां ऐसा वचनालाप हो, वहां अवश्य ही मन में स्पन्द होता है । जो ज्यादा बोलने की आदत रखते हैं, उनके आत्मबल संतुलित नहीं रह पाता है और ज्यादा बोलने में कोई बात सीमा से हल्की बन गयी तो उसका पश्चाताप रहता है । कोई बात व्यर्थ की निकल गयी तो उसका अनुताप होता है । अधिक बोलने की आदत हमारे जीवन के सुधार के लिए नहीं होती है ।

वाग्व्यवहार में सावधानी – भैया ! प्रयोजनवश ही बोलना चाहिये और वह बोलना भी हित मित प्रिय हो । इस बोल को ही लोग कहते हैं फूल झड़ते हैं और इस बोलने को ही लोग कहते हैं कि बाण निकलते हैं । नीतिकार कहता है कि अधिक शीतल वस्तु क्या है तो बहुत सी वस्तुवें बतायी गयी । चंदन है, नदी का जल है, कुवे का जल है अथवा किसी हिमगर्भ के भीतर बैठ जावो तो वहां शीतलता मिलती है और नीतिकार कहता है कि संत पुरुषों के वचन इतने शीतल होते हैं कि वे हार्दिक संताप को दूर कर देते हैं । इन बाह्य शीतल पुद्गल स्कंधों में यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी के हार्दिक संताप को दूर कर दे । किसी पुरुष को लाख पचास हजार का टोटा पड़ गया हो, बड़ी स्थिति का हो तो उसके मन में बड़ा संताप बना रहता है । उसका मन ठिकाने नहीं रहता है । हार्ट पर भी आक्रमण हो जाता है, ऐसी स्थिति में बाहरी पदार्थ क्या करें ? कोई पुरुष धैर्य की बात कहे, और उसके लाभ के उपाय की बात कहे और कुछ ऐसा उपाय लगा भी दे तो चित्त में शांति आयेगी तथा संताप मिटेगा । वचन हार्दिक संताप को भी दूर कर देते हैं । ऐसे वचन तब निकाले जा सकेंगे जब वचनों पर संयम होगा । कम बोलने, विचार कर बोलने, प्रयोजनिक बोलने की जहां वृत्ति बनेगी, वहां उसका बोलना हित, मित, प्रिय निकल सकेगा ।

लौकिक जन सम्भाषण प्रतिषेधवचन – जो परमयोगी पुरुष हैं, जिनको केवल अपने ज्ञाताद्दष्टा की स्थिति रहने रूप अमृत के पान से ही प्रयोजन है, जिन्होंने अपने अन्तस्तत्त्व में र्निविकल्प सामान्यस्वरूप प्रतिभासस्वरूप आत्मतत्त्व का दर्शन किया है ऐसे पुरुष का तो यह यत्न होता है कि लौकिकजनों का संसर्ग छोड़ें । लौकिक जनों के साथ सम्भाषण करने को भी आत्मतत्त्व के साधक के लिए सिद्धान्त में मना किया गया है । प्रवचनसार में जहां चारित्र की अंतिम गाथा है वहां यह शिक्षा दी गयी है कि लौकिक पुरुषों का संसर्ग न करना चाहिए। कदाचित् कोई साधु किसी रोगादिक उपद्रव से उपद्रुत हो, ऐसी स्थिति में उनके धर्म के वत्सल साधु उपद्रत साधु की वैयावृत्य के प्रयोजन से लौकिक पुरुषों का संसर्ग कर सकते हैं, पर प्राय: लौकिक जनों का

संसर्ग नहीं होता है । लौकिक जनों का मतलब है जो विषयवासनावों में रत हैं जिनका मोह ही एक उद्देश्य है, जिन्हें अपने आगे पीछे का कुछ पता नहीं है, अपने स्वरूप का मान नहीं है ऐसे विषय कषायों में लीन पुरुषों को लौकिक जन कहते हैं । उन लौकिक जनों के साथ संसर्ग को यह योगी छोड़े तो उसको कल्याण का मार्ग मिलता है ।

लौकिक जनसम्पर्क की उत्सुकता के परिणाम – जरा सम्पर्क के विषय में कल्पना कीजिए– क्या बनना चाहते हो ? क्या दुनिया में लखपति करोड़पति बनना चाहते हो ? कुछ भी बन लो पर यहां पर हृदय में शांति मिलेगी क्या ? अरे जितने बड़े ऊँचे बन जावोगे कदाचित् पतन हो गया तो उतना ही अधिक विषादद होगा । मानों कोई प्रधानमंत्री हो गया और लोगों ने अविश्वास करके या किसी प्रकार उसे पदच्युत कर दिया तो उसके चित्त से पूछो तो वह मुहल्ले में निकलने में भी सकुचाता है । लो देख लीजिए कल्पित बड़प्पन में उसकी क्या हालत हो रही है ? यह तो बड़प्पन की बात नहीं है । बड़प्पन की बात तो यह है कि हम अपने आपको आकिश्चन्य केवल ज्ञानानन्दस्वरूप जैसा मैं अपने स्वरूपास्तित्त्व में हूं वैसा ही अपने को देखें । सरल सात्त्विक वृत्ति में ही शान्ति का मार्ग मिलता है ।

सात्त्विक रहने का शान्ति संतोष में सहयोग – बुन्देलखण्ड में झांसी जिले में एक कटेरा नाम का एक ग्राम है । उसमें पहिले एक जैन रहता था, वह राजमान्य भी था । राजा उसका बड़ा आदर करता था, उसकी बड़ी हैसियत भी थी किन्तु उसकी चर्या क्या थी – गुड़, नोन, तम्बाकू की गठरी लेकर एक घंटा गांव में घूमना और उसे बेचना, यह उसका प्रतिदिन एक घंटे का प्रोग्राम था । बाद में सारा लेनदेन का काम करे, बहुत बड़ी जायदाद थी, सारी सम्पदा को संभाले । उसकी हैसियत इतनी थी कि राजा आदर करता था । कुछ लोगों ने पूछा कि सेठजी तुम एक घंटा गुड़, नोन, तम्बाकू गांव में बेचने का काम क्यों करते हो ? तो उसका उत्तर था कि आज हम बड़े हैं दुनिया की लोगों की दृष्टि में, आज हम राव राजा कहलाते हैं, अच्छी हैसियत है, कदाचित् पुण्य का उदय विघटकर खोटा उदय आ जाये तो हमें दुःख तो न होगा फिर नमक गुड़ तम्बाकू बेचने में । यह एक लौकिक बात है, अपने आपको शांति और संतोष में बनाए रहने के लिये और परमार्थतः तो यह बात बिल्कुल यथार्थ है कि अपने आपको पर से विविक्त माना जाय । इसी से शांति का मार्ग मिल सकता है ।

मैं मैं तू तू का परिणाम – जो बाहर में मैं मैं तू तू मेरा मेरा करता है उसको अशांति ही होगी । छात्रावस्था में एक माधुरी पत्र में कथानक पढ़ी थी कि रामू लड़का था, वह बड़ा नटखट था । वह एक पाव भर रसगुल्ले के लिए चले जा रहा था, रास्ते में एक धोबी कपड़े धोता हुआ मिला । उस लड़के ने धोबी के लड़के को रसगुल्ला खिला दिया । अब तो वह लड़का और भी रसगुल्ले खाने के लिए मचल गया । धोबी ने पूछा भाई तुमने इसे क्या खिला दिया ? उसने कहा

रसगुल्ले । ये रसगुल्ले कहां मिलेंगे ? अरे यह जो बाग है ना उसमें चले जावो, चाहे जितने तोड़ लावो । तो धोबी बोला तुम्हारा नाम क्या है ? लड़के ने कहा मेरा नाम है कलपरसों । अच्छा भाई कलपरसों मेरे ये कपड़े देखते रहना, मैं थोड़े से रसगुल्ले उस बगीचे से तोड़ लाऊँ । वह तो चला गया बगीचे में और वह लड़का अच्छे- अच्छे कपड़े पहिनकर और अच्छे– अच्छे कपड़े लेकर चम्पत हो गया । जब धोबी लौटकर आया तो चिल्लाने लगा कि अरे भाईयों कलपरसों मेरे कपड़े ले गया । लोगों ने सुना तो कहा अरे कलपरसों कोई कपड़े ले गया तो आज क्यों रोता है, आज रोने से क्या फायदा है ? वह लड़का आगे बढ़ता चला गया, आगे रास्ते में उसे एक घोड़े वाला मिला । उसके पास लोटा डोर थी । घोड़े वाले ने कहा कि यह लोटा डोर मुझे दे दो प्यास लगी है, मेरा घोड़ा पकड़ लो, मैं उस कुवें से पानी पी आऊँ । अच्छा भाई ! तुम्हारा नाम क्या है ? उस लड़के ने कहा कि मेरा नाम है कर्ज देने में । घोड़ा उस लड़के को पकड़ाकर घोड़ेवाला पानी पीने चला गया । उस लड़के ने क्या किया कि उस घोड़े पर बैठकर उसे उड़ा ले गया । अब वह आकर रोता है, चिल्लाता है – अरे भाई कर्ज देने में घोड़ा ले गया । अब लोगों ने कहा – अरे भाई कर्ज देने में घोड़ा ले गया तो क्या बेजा किया ?

वह लड़का एक शहर किनारे पहुंचा, एक धुनिया के घर में पहुंचा । धुनेनी से कहा मां मुझे रात भर ठहर जाने दो । उसने कहा ठहर जावो भाई । तुम्हारा नाम क्या है ? मेरा नाम तू ही तो था । धुनिया गया था परदेश । लड़के ने क्या किया कि बनिया के घर से घी, आटा, दाल आदि उधार ले आया । अच्छे कपड़े तो पहिने ही था । कहा कि सुबह आपके पैसे चुका देंगे । बनिया ने पूछा, अच्छा भाई तुम्हारा नाम क्या है ? मेरा नाम है मैं था । उस लड़के ने रात को खाना बनाया और खा पीकर दाल का धोवन धुनिया की रुई में डालकर सुबह चला गया । जब धुनिया आया तो देखा कि सारी रुई भीगी हुई है । पूछा कि रात को यहां कौन ठहरा था ? स्त्री बोली कि तू ही तो था । अरे ठीक-ठीक बोल । हां वह तू ही तो था ? धुनिया को गुस्सा आया, सो पीटने लगा । बनिया ने देखा कि धुनिया अपनी स्त्री को पीट रहा है तो उसे दया आयी । बोला अरे इसे मत पीटो, जो रात ठहरा था वह तो मैं था । लो उस धुनिया ने उस बनिये को पीटा । तो इस मायामयी दुनिया में जो मैं मैं, मेरा मेरा करता है, उसे सिवाय रंज, शोक के डंडों के और कुछ न मिलेगा ।

यथार्थ अवगम से संताप का अभाव – भैया ! सर्वसमागम तो छोड़ कर जाना है और इन समागमों से चिपका हुआ मन बनाया जा रहा है । झूठी बात में शान्ति कैसे हो सकती है ? मिथ्या को अपना रहे हैं । जब तक सम्यग्ज्ञान का प्रकाश न होगा तब तक आनन्द का रास्ता नहीं मिल सकता । सबको जरूरत है सम्यग्ज्ञान के प्रकाश की । चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो,

चाहे सर्विस वाला हो, चाहे व्यापार वाला हो, कोई भी पुरुष हो, प्रत्येक पुरुष को यदि शान्ति चाहिए तो सम्यग्ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता प्रथम है । जिनको आज अपना मान रहे हो वे सदा रहने को नहीं हैं । जब वे न रहेंगे तो दुःखी होवेंगे ही । यदि सही मान्यता हो तो दुःख न होगा । जो समागम मिला है उसे यदि पहिले से जानते रहें कि ये सब विनाशीक हैं, भिन्न हैं, मिटेंगे तो मिट जाने पर भी क्लेश नहीं होता है, क्योंकि वह समझ रहा है कि यह तो मैं पहिले से ही जानता था । जो जानता था सो ही तो हुआ । अनहोनी तो कुछ नहीं हुई । जब यह जीव मन के प्रतिकूल अनहोनी की बात समझता है तब इसे क्लेश होता है ।

स्वरूपदर्शन के पथ में – मुख्यतया तो यह उपदेश है कि जनसम्पर्क सर्वथा छोड़ो और लौकिक जनों का सम्पर्क छोड़ो । रहना पड़े लौकिक सम्पर्क में तो इतना तो अपने स्वरूप को निरखो कि मेरा स्वरूप लौकिक सम्पर्क से रहित विशुद्ध ज्ञानानन्दमात्र है । परमार्थ आत्मस्वरूप की कुछ भी निगाह यदि नहीं रह सकती तो फिर शांति की चर्चा करना बिल्कुल व्यर्थ है । जानमानकर जब हम स्वयं आग में कूद रहे हैं और वहां चाहें कि मुझे शीतलता मिल जाय तो कैसे मिल सकती है ? जब हम संकल्प विकल्प से अपने को अधीर बना रहे हैं और चाहें कि वहां शांति मिले तो यह कैसे हो सकता है, और संकल्प विकल्प से रहित केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र अपने आपकी झलक तो कर लीजिए । अंतरंग में उसका यथार्थ श्रद्धान रहे, यदि श्रद्धाबल हमारा सही है तो हम कभी शांति के मार्ग में भली प्रकार सफल हो जायेंगे । यदि ज्ञानप्रकाश नहीं है तो जैसे अभी तक अनादि से दुःख में पड़े आये हैं वैसा ही दुःख मिलेगा, कभी उन्नति की बात न मिलेगी ।

श्लोक 73

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चल:॥७३॥

अनात्मदर्शी का निवासदर्शन – जो आत्मा अनात्मदर्शी हैं, जिन्हें आत्मा का दर्शन अनुभवन नहीं हुआ है – ऐसे पुरुष की दृष्टि में गांव तो गांव हैं और जंगल जंगल ही है अर्थात् यह गांव है, यह जंगल है—ऐसे दो तरह के निवास की कल्पनायें होती हैं, किन्तु जिसने आत्मस्वरूपदर्शन अनुभवन किया है–ऐसे पुरुष के लिये रागादिक रहित शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वरूप निश्चल आत्मस्वरूप रहने का स्थान है । जिन्हें स्वयं के स्वरूप का परिचय नहीं, वे बाहर अपना निवासस्थान मानते हैं । उनकी दृष्टि में ये अमुक ग्रामवासी लोग हैं, ये सब नगरवासी लोग हैं, ये सब वनवासी लोग

हैं—इस प्रकार के बाहरी स्थानों के भेद से ही निवास स्थान का भेद मान लिया है और इस प्रकार का सोचते हैं कि मेरा इस अमुक मकान में निवासस्थान है । मैं तो अमुक के घर में रहता हूं, यह भी तो मिथ्याकल्पना है । यह भी अनात्मदर्शियों की बात है । वस्तुत: तो मैं विविक्त आत्मतत्त्व में रहता हूं, अपने आत्मा में ही रहता हूं ।

आत्मा का निवासक्षेत्र व परिजन – भैया ! किसी से पूछो कि ऐ भाई ! आप कहां रहते हैं ? वह उत्तर दे कि हम अपने आत्मा में रहते हैं । यह सही उत्तर है, पर सुनने वालो को संतोष न होगा । सही बात यह है कि आप कहां रहते हैं ? हम अपने आत्मा में रहते हैं । तुम्हारे कुटुम्ब में कितने लोग हैं ? मेरे कुटुम्ब में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, चारित्र अनेक गुण बताते जाइये । वे मेरे कुटुम्ब के हैं और तुम्हारे रिश्तेदार कहां कहां हैं ? हमारे रिश्तेदार—कहीं हल्की रिश्तेदारी है, कहीं खोटी रिश्तेदारी है, कहीं बड़ी रिश्तेदारी है, हम कौन सी रिश्तेदारी बतायें । अरे आखिर बताओ तो । हमारी तो सब पर्यायों से रिश्तेदारी है । गति, इन्द्रिय, काय, योग—ये सभी के सभी हमारे रिश्तेदार हैं । कभी बनते हैं, कभी बिगड़ते हैं । इनसे खोटी रिश्तेदारीयां भी हैं व भली रिश्तेदारी भी हैं । जैसे गतिरहित, इन्द्रियरहित, योगरहित, वेदरहित, कषायरहित—ये भली रिश्तेदारियां हैं । तुम्हारा घर कहां है ? हमारा घर हमारे आत्मा के प्रदेश में हैं । उत्तर देने वाला बड़ा ही अजीब सा है । इसके विरुद्ध जो उत्तर देने वाला है, वह गलत है ।

यथार्थ उत्तर में जनसामान्य का परितोष – आप कहां रहते हैं ? हम साहब अमुक नम्बर की हवेली में रहते हैं । अरे कहां हवेली में निवास है ? देह में रहता हूं, इतना भी कह देता तो भी आधाफादा उत्तर ठीक उत्तर था । अरे भैया ! वह उत्तर तो बताओ कि अनजान आदमी भी सुने तो अर्थ समझ जाये । कोई अपरिचित आदमी इङ्गलैण्ड, अमेरिका का आये और वह भी आपकी बात को समझ जाये, वह सही उत्तर होगा । आपने कह दिया कि मैं अमुक हवेली में रहता हूं, दूसरा तो इस बात को न समझ सकेगा । आप कहेंगे कि मैं इस देह में रहता हूं तो वह अपरिचित भी समझ जायेगा कि यह ठीक कह रहा है । आप कहेंगे कि मेरे ५,७ ये मकान हैं । अपरिचित तो न समझ सकेगा । यह मकान किसका है ? यह अमुक चन्द का मकान है । उस मकान को नीचे से देखा, ऊपर से देखा, किवाड़ों पर देखा, मगर पता तो नहीं चलता कि यह मकान अमुक चन्द का है । जो पड़ौस के लोग हैं, उन्हें मालूम हैं, वे जानते हैं, पर कोई दूसरा भी समझ जाये, यह बात पक्की है, यह तो मनमानी बात है । ये साहब अमुक के मामा हैं, अपरिचित तो न समझेगा । हां यह इतने लम्बे हैं, सांवले हैं, काले हैं, यह बात कुछ कुछ समझ जायेगा दूसरा, पर ज्ञानियों की दुनिया में तो यह भी बात प्रतिष्ठा नहीं पाती ।

वस्तुत: मेरा निवासस्थान – अब देख लीजिए ऐसा निर्णय बनाना कि यह जंगल में रहने वाला है, यह गांव का रहने वाला है, यह नगर का रहने वाला है, यह शहर का रहने वाला है। यह तो

भेद ठीक नहीं बैठता है । अनात्मतत्त्व में आत्मतत्त्वरूप से स्वीकार कर ली जाने वाली दृष्टि अनात्मदर्शी पुरुषों के होती है, किन्तु जिन्होंने आत्मस्वरूप को निरखा है, उनको नि:शंक स्पष्ट ऐसा परिज्ञान है कि अन्य सर्वपदार्थों सर्वपरभावों से भिन्न यह मेरा आत्मा ही मेरा निवास स्थान है । इस देह को भी छोड़ेंगे तो भी मेरा घर न छूटेगा । देह छूट जायेगा, देह पड़ा रह जायेगा, देह को लोग जला देंगे, पर मेरा घर मेरे साथ जायेगा । वह मेरा घर है मेरा स्वरूप, मेरा प्रदेश मेरा घर है । इस आत्मा में ही मेरा निवास है । ऐसी दृष्टि ज्ञानी पुरुष के होती है । जो लोग आत्मानुभव से रहित हैं, उनका ही मन में, वचन में और काय में ऐसा उद्यम रहता है कि उनका निवास स्थान गांव में या जंगल में होता है अर्थात् कोई गांव को अपनाता है तो कोई जंगल को अपनाता है तो कोई जंगल से प्रेम रखता है, पर वस्तुत: गांव बाह्यपदार्थ है और जंगल भी बाह्य पदार्थ है ।

निवासस्थानविषयक औपचारिक उत्तर – भारत से आप बाहर हों और कोई पूछे कि आप कहां रहते हैं ? उत्तर दोगे कि हम भारत में रहते हैं । तो भारत तो लाखों वर्ग मील क्षेत्र का होगा एक ओर से दूसरी ओर तक । क्या आप इतने में फैलकर रहते हैं ? जब भारत के किनारे पर आ जावोगे । कोई पूछेगा कि कहां रहते हो ? आप बोलते हैं कि हम यू०पी० में रहते हैं । आप यू०पी० भर में फैले हैं क्या ? यू०पी० में आ गये तो पूछा जाये कि कहां रहते हो ? तो उत्तर दोगे कि साहब हम इटावा जिले में रहते हैं । आप इटावा जिलेभर में फैले हैं क्या ? फिर इटावा जिले में आये तो पूछा कि कहां रहते हो ? तो कह दोगे कि जसवन्तनगर में रहते हैं । अब और सीमित होते जावो । अमुक घर में रहता हूं और हुए तो इस शरीर में रहता हूं, यह उत्तर सही नहीं बनता है, क्योंकि यह भी झूठ हो जाएगा । कभी शरीर को भी छोड़कर चल देंगे आप । कहां रहा शरीर का निवास ? तो सही उत्तर यह है कि हम अपने आत्मप्रदेश में रहते हैं ।

दृष्टि की दिशा में – गांव जंगल दोनों ही बाह्यवस्तुएँ हैं । उनमें निवास की चर्चा करना यह अनात्मदर्शी का काम है । अब बताओ हाथ हाथ भर की जगह पर ४-६ अंगुल की जमीन पर परस्पर में लड़ाई हो जाये, मुकदमे बाजी चल जाये, दोनों पार्टी बरबाद हो जायें, यह कितनी मूढ़ता है ? अरे जमीन किसकी होती है ? देह भी अपना नहीं है तो अन्य चीजों की कथा ही क्या करना है और ऐसा ही प्रेम हो, कदाचित् कि हम जंगल में ही रहें, वहीं पर आत्मकल्याण होगा तो मात्र जंगल का निवास किसी को कल्याणमय नहीं बना देता, आत्मदर्शी नहीं बन सकता । प्रत्युत जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, उनका निवास स्थान उन्हें स्पष्ट विदित है कि मेरा निवासक्षेत्र यह आत्मस्वरूप ही है ।

भेदकथन की एक आवश्यकता – मैं अलग और मेरा निवासभूत अलग हो तो है ही नहीं, फिर मेरा घर मैं हूं, इसका मतलब क्या है ? मतलब तो कुछ नहीं है, पर जिन्हें समझाना है, वे भेद वाले हैं । वे इतने भेद में पहुंच गये हैं कि अपने से भिन्न देह को ही अपनाने से इतना भी नहीं, किन्तु गांव या जंगल भी अपना लिया है । उनको समझाने के लिए उनकी ही भाषा में यह समाधान है । हम कहां रहते हैं ? हम हम ही में रहते हैं । जिनको इस आत्मा से ही प्रयोजन हो—ऐसे मनुष्यों का समूह बैठा हो तो उनमें यह चर्चा देना भला लगेगा, पर पर्यायमोही पुरुषों के बीच में ऐसी बात कहें तो उसका कुछ अर्थ न निकलेगा । कोई न्यायालय में पहुंच जाये और वहां जज यह बात पूछे कि तुम कहां पर रहते हो ? और वह उत्तर दे कि हम अपने आत्मा में रहते हैं तो वहां तो केवल यही एक फैसला है कि अब तुम जावो, मुकदमा खारिज । जहां की भी गोष्ठी है, वहां वैसा ही चलता है तो चलो, उसके बिगाड़ नहीं है, किन्तु श्रद्धा यथार्थरूप में बनी रहे ।

व्यर्थ का श्रम – भैया ! व्यवहार ही जिन्हें परमार्थ बन गया, उनका बिगाड़ है । व्यवहार व्यवहार का रहे, परमार्थ का भी अवगम बना रहे तो कुछ बुरा नहीं है, पर अनात्मदर्शी पुरुष तो श्रद्धा ही रख रहे हैं कि यह मेरा घर है, मैं बस घर में रहता हूं, मेरा यह निवासस्थल है और इसी के कारण थोड़ी सी जमीन पर कोई विवाद हो तो जरा भी नहीं छोड़ना चाहते हैं । यह जो एक आधार के प्रश्न पर उत्तर दिया गया है, पर अर्थ सभी अपने में लगाते हैं । मेरा यह धन, मेरा यह रुपया है, मेरा यह वैभव है, यह सब अनात्मदर्शियों का मन्तव्य है, पर जो आत्मदर्शी हैं, उन्हें तो सब कुछ अपना आत्मा ही है । हम आपको कोई दुःख नहीं है । दुःख बना लिया है । भाई-भाई में बंटवारा हुआ, वहां इतनी कल्पना हुई कि इसे इतना ज्यादा हिस्सा मिला, इतना मुझे कम मिला, इसमें जरा अपने आपके स्वरूप को तो परखो कि जितना मिला, उससे भी आधा मिलता तो भी क्या बिगाड़ था ? जब ज्ञान जगेगा तो जो मिला मिलाया है, उसे भी तो त्याग करके जावेगा । न विवेक जगे, न जीव में त्याग कर सके तो मरने पर तो त्याग करके जावेगा ही ।

व्यर्थ का विकल्प – लोभी कन्जूसअनुदार पुरुष के स्वपर की अन्याय भरी प्रवृत्ति के मुकाबले में यह तो संतोषकारक बात बनती है । कर लेने दो १०,२० वर्ष तक मनमानी, मक्खीचूसी, जब तक जिन्दा है । आखिर छोड़ जायेगा पूरा का ही पूरा । ऐसा संतोष रहता दूसरों को । तो क्या रहा अपना ? कौन सा संकट है ? कम धन हो गया तो क्या बिगड़ गया ? यहां कोई संकट नहीं है । मान्यता का संकट है । आज मानो दो लाख की जायदाद है, उनमें से यदि दो हजार भी कम होते हैं तो क्लेश माना जाता है । बड़ी कठिन समस्या है । घाटा पड़ गया । यदि हम दो लाख के वैभव वाले शुरू से न होते और होते ५०० रुपये के वैभव वाले । ठेला चलाकर

अथवा कुछ साधारण चीज का सिलसिला लगाकर पेट पालते तो क्या ऐसा हुआ नहीं जा सकता था ? कौन सा कष्ट आ गया ? आध्यात्मिक मंच पर बात कही जा रही है । आज क्लेश मान रहे हैं । दूसरे देश वाले यदि इस देश को हड़प लें, कब्जा कर लें तो बड़ा अनर्थ होगा । हम शान से कहां रहेंगे ? हमारा गुजारा कैसे चलेगा? यदि मरके उसी देश वाले बन गये, जिसके अधिकार की आशंका में बीमार हुए थे, अब वह जीव बड़ा खुश होगा । हमारा इतना विस्तार है ।

आत्मदर्शी का निवास दर्शन – भैया ! कहां हैं कहीं पर संकट ? अपनी कल्पनाओं में सङ्कटों का विस्तार बना जाता है और अपने ही विचारों से सङ्कटों का संहार कर दिया जाता है । जो ज्ञाताद्दष्टा ज्ञानी सन्त पुरुष हैं, उनके बाह्यविषयक ये कल्पनाएँ श्रद्धा का रूप नहीं रख सकती हैं । उन्हें न तो ग्रामवास से प्रेम है और न उन्हें जंगल के निवास से प्रेम है,क्योंकि वे दोनों ही स्थान अपने आत्मस्वरूप से बाहर के स्थान हैं । पुरुष को बाहरी क्षेत्र में, बाहरी पदार्थों में आसक्ति नहीं होती है, प्रीति नहीं होती है । वे किसी भी बाह्य क्षेत्र को अपना निवास स्थान नहीं मानते हैं । जिनको भेदविज्ञान जग गया है और इसी कारण अपने आत्मा में अनाकुलता का प्रसार होने लगा है, उन्हें तो कहां गांव का निवास व कहां जंगल का निवास । उनकी कहीं भी आसक्ति नहीं रहती है ।

परमार्थ निजनिवास के अदर्शन में आत्मदर्शिता का अभाव – भैया, घर तक भी कोई त्याग दे और जंगल के निवास के स्नेह बढ़ा ले, कोई कुटिया उठाले या जिस शिलापर बैठकर ध्यान करते थे उस शिला पर मानो कोई धोबी ही अपने कपड़े धोने लगे तो उनके चित्त में विकल्प होने लगे, यह मेरा निवासस्थान है, यों शिला को अपनले व अन्य किसी प्रकार भले ही वह जंगल में जंगल जैसी ही सीनरी बनाये, जंगल जैसा ही वहां कुछ उपक्रम करे । फिर भी गांव में रहकर जैसे ग्रामनिवास का स्नेह था, वैसे ही जंगल में रहकर जंगलनिवास का स्नेह बनाया तो जो मिथ्यात्व पहिले था, वही मिथ्यात्व अब है । ज्ञानी पुरुष तो शुद्ध आत्मस्वरूप को ही अपनी विहार भूमि मानते हैं । कहां रहते हैं ? अपने विविक्त आत्मा में । कहां गमन करते हैं ? अपने विविक्त आत्मा में । वे मैं ही में सदा रमते हैं । किसी भी क्षेत्र में हो, ज्ञानियों का यत्न अपने आपमें अपने आपको ही देखने में रहा करता है । कहीं किसी क्षेत्र के निवास से आत्मदर्शी नहीं बना जा सकता है, किन्तु अपने ही गुणपर्याय की निरख से आत्मदर्शी तो हो ही सकता है । इसी प्रकार से यह विविक्त निश्चल आत्मा तो केवल ज्ञानियों का निवास स्थान है ।

श्लोक 74

देहान्तरगतेबीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना॥७४॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी का निवासविषयक अभिमत – पूर्व के श्र्लोक में यह बताया गया था कि जो आत्मदर्शी पुरुष हैं, जिन्हें आत्मतत्त्व का परिचय नहीं हुआ है – ऐसे पुरुष अपने निवास के सम्बन्ध में ऐसा भेद डालते हैं कि मैं गांव में रह रहा हूं या जंगल में रह रहा हूं, किन्तु जिसने आत्मतत्त्व का मर्म समझा है, अनुभव किया है – ऐसे पुरुष के तो यही एक निश्चल धारणा है कि मेरा निवास तो इस विविक्त निजआत्मा में ही है । मैं अन्यत्र कहां रहता हूं ? जैसे यह पूछा जाए कि बताओ यह चौकी किस में है तो एकत्वदृष्टि रखने वाले पुरुष यों कहेंगे कि यह चौकी मन्दिर में है, यह चौकी आकाश में है, परन्तु परमार्थस्वरूप जानने वाले यह कहेंगे कि चौकी चौकी में है, न मन्दिर में है, न आकाश में है । यद्यपि व्यवहार दृष्टि से यह चौकी मन्दिर में है, आकाश में है, पर चौकी के ही स्वरूप को तो निरखकर यह उत्तर होगा कि चौकी चौकी में है, आकाश में नहीं हैं, आकाश में आकाश है ऐसे ही देह में रहकर भी अपने को पृथक समझो ।

सब द्रव्यों का एकत्र अवगाह – इस लोक में छहों द्रव्य प्रत्येक जगह हैं । कौन सा प्रदेश ऐसा है, जहां छहों द्रव्य न हों, कहीं कम हो तो कोई जगह बतावो लोकाकाश में । आकाश तो है ही और लोकाकाश में धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तिल में तैल की तरह पूर्णरूप से व्यापक है । तो ये दो भी लोक में हैं । कालद्रव्य लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक एक अवस्थित है, इसलिए कालद्रव्य भी इस लोक में सर्वत्र है । चूंकि द्रव्य अनन्त हैं और बताया गया है कि लोकाकाश में जीव ठसाठस भरे हैं, लोकाकाश में एक एक जगह पर अनन्तजीव मिलते हैं । अब देखने में ऐसा आ रहा है कि देखो वहां टेबिल रखी है, यह भींत है, यह चौकी रखी है, बीच में तो कुछ भी पुद्‌गल नहीं है, किन्तु जब जीवद्रव्य है सर्वत्र तो यहां एक एक जीव के साथ अनन्तानन्त तो कार्माणवर्गणाएँ लगी हैं और उनका सूक्ष्मशरीर भी है । कितने ही तो बादर शरीर भी ऐसे होते हैं, जो आंखो से नहीं दिख सकते, पर सूक्ष्मशरीर तो हैं ही । तब पुद्‌गल स्कन्ध भी बहुत हो गये । इसके अलावा और भी सूक्ष्म स्कन्ध ऐसे हैं जो आंखो से नहीं दिखते । कितने ही स्कन्ध तो कभी कभी रोशनी में दिख जाते हैं । जहां सूर्य की तीक्ष्ण किरणें आती हैं, सूर्य तक जो हमारी दृष्टि पहुंचती है, सो वहां स्कन्ध जो प्रकाशित हैं, उनकी लैन दिखने लगती है । यों इस इस लोक में छहों द्रव्य सर्वत्र भरे हुए हैं ।

एकत्र अवगाह होने पर भी प्रत्येक सत् की स्वरूपभिन्नता – यद्यपि लोक में सर्वत्र छहों जाति के पदार्थ हैं, फिर भी स्वरूप को देखो तो एक द्रव्य में दूसरा द्रव्य नहीं है । आकाश में आकाश है, आकाश में जीव नहीं है, पुद्‌गल नहीं है, धर्मादिक नहीं हैं । प्रत्येक द्रव्य अपने ही स्वरूप में है, पर के स्वरूप में नहीं हैं । जब इस आत्मदर्शी को ऐसा दिख जाये कि मेरा निवास मेरे स्वरूप में है, अन्यत्र नहीं है, इस वर्णन के पश्चात् थोड़ी यह जिज्ञासा होती है कि आत्मदर्शी की कैसी भावना रहती है और अनात्मदर्शी की कैसी भावना रहती है और इन सब भावनाओं के फल में इसकी किस प्रकार की परिस्थिति बनती है ? इस ही जिज्ञासा का समाधान इस वाले श्लोक में किया गया है ।

अनात्मदर्शी की परिस्थिति – इस शरीर में यह आत्मा मैं हूं, इस प्रकार की भावना हो तो यह अन्य अन्य देह की प्राप्ति के लिये बीजरूप हो जाता है । जैसे खेत में बीज डाले तो उसका नया अंकुर नया पौधा बन जाता है – ऐसे ही इस देह में यह आत्मा मैं हूं – ऐसी भावना की तो यह भी अन्य देह की प्राप्ति का कारण बन जाता है । यों कह लीजिए कि किसी को शरीर ही शरीर चाहिये तो उसका उपाय है कि इस देह में यह मैं आत्मा हूं, ऐसी वासना बनाता जाये । लौकिक जन तरसते हैं कि मेरा जन्म हो, अच्छा जन्म हो, देवगति में जन्म हो, राजा महाराजा के घर पर जन्म हो, जन्म जन्म तरसता है यह जीव । जन्म लेने का उपाय भी यही है कि देह में मैं आत्मा हूं, ऐसा मानते जाये । शरीर में आत्मबुद्धि करने से इसका तो ठेका नहीं लिया जा सकता है कि इस गति में जन्म होगा, किन्तु इसका ठेका लिया जा सकता है कि यह जन्मता रहेगा, शरीर मिलते ही रहेंगे । इसमें रंच भी कसर नहीं है । जो देह में 'यह मैं आत्मा हूं' ऐसी भावना करता है, उसे अनात्मदर्शी कहते हैं । उसका फल है संसार में रुलता रहना और नये नये शरीर धारण करते रहना, संकट सहते रहना ।

आत्मदर्शी की परिस्थिति – जो आत्मदर्शी पुरुष होते हैं अर्थात् इस आत्मा में ही भावना करने वाले होते हैं । आत्मा को ही लक्ष्य करके यह मैं हूं, इस प्रकार की प्रतीति करने वाले जो पुरुष हैं, उनकी आत्मा में आत्मा की भावना रहती है । यही आत्म में आत्मभावना देहरहित होने का उपाय है, मुक्ति का उपाय है । नये नये शरीर मिलते रहें, उसका यह सुगम उपाय है कि इस देह में 'यह मैं हूं, यह मैं हूं' ऐसा मानता जाय तो देह से छुटकारे का उपाय है कि वे देह आत्मा को आत्मा मान लें ।

सृष्टि की सुगमता – लोक में किन्हीं किन्हीं मन्तव्यों में ऐसी भी प्रसिद्धि है कि ईश्वर इस सृष्टि को करता है । उनसे पूछा जाए कि वह ईश्वर इस सारी सृष्टि को कहां करता है ? कैसे उसके हाथ पैर हैं ? कहां बैठता है ? तो उनका उत्तर यह होगा कि ईश्वर इच्छ भर करता है और यह सारी सृष्टि यों ही हो जाती है । अब इसका अर्थ लगावो । ईश्वरस्वरूप किसका है ? सर्वज्ञता

का जिसका स्वरूप है – ऐसे ये सभी आत्मा अन्तरंग दृष्टि से ईश्वर हैं । अरे ये सब ईश्वर इच्छा ही भर तो करते हैं कि सारी सृष्टि अपने आप होती रहती है । हम आप जीवों से भिन्न कोई ईश्वर हो और वह इच्छा करे तो जो इच्छा करे, उसमें ही परिणमन होगा, उसे ही उसका फल मिलेगा । यहां हम आप जैसा परिणाम बनाते, जैसी इच्छा करते हैं, उसके अनुकूल हम आपको प्राप्ति होती रहती है, सृष्टि होती रहती है । इच्छा भर करने का काम है, फिर तो हमें कैसा देह मिलना है, कब तक रहना है, उस देह से कब बिछुड़ जाना है – ये सारी की सारी बातें स्वत: होती रहती हैं । तो अनेक देह मिलते रहें, नये-नये शरीरों की रचना होती रहे इन सबका कारण है देह में आत्मा की भावना कर लेना ।

इच्छामात्र की कला पर सांसारिक सृष्टि – जैसे बारातों में आगोनी होती है । आगोनी उसे कहते हैं जो आगे चले, उसमें जो अनार आदि घालते हैं उसमें जरा सी आग की बत्ती छुवा दी, इतना ही भर तो काम वह पुरुष करता है, इसके आगे उस अनार में वह और कुछ प्रेरणा नहीं करता है । अपने आप ही ऊँचे उठना, प्रकाशित होना, दगना सब कुछ हो जाता है । ऐसे ही इस देह में यह मैं आत्मा हूं इतनी भर बात मान लिया फिर अपने आप ही शरीर बन उठा, सारे दंदफंद लग गये, यह शरीर बन जायेगा, सारे दंदफंद हो जायेंगे । उसमें तुम्हें कुछ नहीं करना है तुम्हारी करतूत तो इतनी भर है कि अहंकार और ममकार कर लें, इतना भर काम किया । उन खोटी स्थितियों के प्रसंग में भी अब उसका निमित्त पाकर अपने आप ही यह सारा खिलवाड़ हो रहा है । अनात्मदर्शिता से यह सारा खिलवाड़ अपने आप हो जाता है। देह में आत्मभावना न करे, आत्मा में आत्मभावना करे तो शुद्ध आनन्द मिलना, ज्ञानप्रकाश का बढ़ना, ज्ञानमय उपयोग रहना ये सारी भली बातें हो जाया करती हैं । इसके विपरीत भाव में तो सांसारिक सृष्टि ही हुआ करती है ।

विचित्र कला – यह शरीर जड़ है । शरीर के उत्पन्न होने में निमित्त है कर्मोदय । जीव जब विभाव परिणाम करता है तो उस काल में कर्मप्रकृति का बंध हो जाता है और उनमें प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग ये चार चीजें हो जाती हैं । अब उनकी सत्ता पड़ी हुई है । जब किसी भी प्रकार वे उदय में आते हैं तो उनके अनुकूल सब रचना होने लगती है । यों यह शरीर कर्मोदयजन्य है । इसमें मेरी करतूत कला नहीं है । मेरी करतूत कला तो इस प्रसंग में इतनी मात्र है कि इच्छा कर लें । इच्छा भर की कि वे सारे काम होने लगते हैं । कैसा चमत्कार है इस जीव का ? प्रभुता तो इसकी निराली है ही । यह इतनी सामर्थ्य रखता है कि जब बिगड़ता है तो अपनी अद्भुत छटा दिखा देता है और जब संभलता है तो अपनी अद्भुत छटा दिखा देता है ।

बिगड़ने में कला का विस्तार – देखो अनन्त ऐश्वर्य की सामर्थ्य वाला यह जीव जब बिगड़ता है तो इतनी तक भी छटा दिखा सकता है कि पेड़ बनकर पत्ती पत्ती में, फूलों में, फूलों के मध्य जो बाल के समान पतला मकरंद होता है उसके समान पतले डोरों जैसे में आत्मप्रदेशों में यह जीव फैल गया है और जड़ों से पानी का जो लेप आहार करते हैं उन सारे शरीरों में प्रवेश करा लेता है । यह आत्मा यह समयसार यह जीव चेतन जब बिगड़ता है तो बिगड़ने की भी निराली छटा दिख जाती है । कोई वैज्ञानिक बना तो ले विज्ञान से इन जड़ शरीरों को । यह तो सब इस प्रभु की छटा है । यह जीव जब बिगड़ता है तो यहां तक बिगड़ता है ।

संभालने में कला का विस्तार – भैया ! यह जीव जब संभलता है तब प्रतिक्षण एक अद्‌भुत आनन्द का पान करते हुए अपने आपमें ज्ञानप्रकाश का विस्तार करता है जिसके प्रताप से भव-भव के बँधे हुए कर्म भी यों खिर जाते हैं । ऐसे आंतरिक अद्‌भुत सातिशय चैतन्यचमत्कार को चकचकायमान् करता है, संभलता है तो ऐसा अद्‌भुत संभालता है । संभालने का उपाय है आत्मा में आत्मा की भावना करना । इस जीव ने अब तक देह में आत्मभावना की है इसका ही फल है कि अब तक संसार में रुलता चला आ रहा है । शरीर में आत्मभावना करने के फल में अन्य शरीरों में भी अपनी रिश्तेदारी कुटुम्बपना ये सब मानना पड़ा, पर तत्त्वत: देखो तो इस अपने आत्मा का जो अमूर्त निर्लेप है क्या है आत्मतत्त्व में ?

भ्रम में मान अपमान का भ्रम – जैसे भिखारी भिखारियों में भिखारियों की ही कोई बात सुनकर कोई भिखारी ऐसा समझता है कि मेरी शान धूल में मिल गयी, हम बरबाद हो गए । कोई तीसरा पुरुष ही यह जानता है कि यह भिखारी व्यर्थ ही ऐसी कल्पना बनाए है । क्या बिगड़ा इसका ? न कुछ सी बात है । ऐसे ही जहां मोही मोहियों का सम्बन्ध बना हुआ है ? वहां पर प्रत्येक मोही जीव जरा जरा सी बातों में अपना अपमान महसूस करता है, पर ज्ञानीपुरुष ही जानता है कि इसमें क्या अपमान हुआ है कुछ भी तो नहीं हुआ । दूसरे ने अपने कषाय के अनुकूल अपनी चेष्टा की इसमें किसी दूसरे का अपमान क्या ? दूसरी बात यह है कि कोई पुरुष किसी दूसरे का अपमान कर ही नहीं सकता । वह दूसरा अपमान मान ले तो अपमान हुआ और यों देखता रहे कि अमुक देखो कैसी अज्ञानभावना में चेष्टा कर रहा है । कैसी कषायभाव की अपनी प्रवृत्ति कर रहा है ? ऐसा ही ज्ञाता दृष्टा रहा तो उसका अपमान नहीं हुआ ।

कष्टों का कारण बर्हिमुखी वृत्ति – जो जीव देह में भोगों में आसक्त रहता है वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ संसार में भटकता रहता है और अनन्त कष्ट भोगता रहता है । मोह छोड़े बिना पूरा न पड़ेगा और मोह छोड़ने में कठिनाई क्या ? व्यर्थ का तो मोह है। आपके घर में आज हम पैदा नहीं हुए तो आप हमें गैर समझ रहे हैं और जो आज आपके घर में हैं वे

आपके घर में न पैदा हुए होते, किसी दूसरे के घर में पैदा हुए होते तो आप उन्हें गैर समझ लेते । हैं दोनों ही गैर, जो घर में उत्पन्न हुए और जो किसी दूसरे के यहां उत्पन्न हुए । आपका तो यह देह भी नहीं है । आपका आत्मस्वरूप ही आपका है । पर ऐसे आत्मा के एकत्व की ओर दृष्टि नहीं हुई है और बर्हिमुख उपयोग वृत्ति हुई है तो कष्ट तो भोगना ही पड़ेगा । आज जिस पुरुष के विरोध में प्रोग्राम बन रहे हैं कभी उस पुरुष को अपना लें तो विरोध की भावना खत्म हो जायेंगी तब वह भी यह समझेगा कि यह तो मेरा है, इसे तो और सुख देना चाहिए वस्तुत: तो कौन किसका है ? कषाय के अनुकूल ही ये सब मेरे तेरे मानने की पद्धति है । जिस आत्मा के निजस्वरूप में ही आत्मतत्त्व की भावना है मैं तो यह ज्ञानमात्र अमूर्तिक आनन्दमय चैतन्यतत्त्व हूं – ऐसी जिनकी दृष्टि हुई है उनको बाहर में क्लेश नहीं होता है । आत्मतत्त्व की भावना वाले संत कुछ निकट में ही कर्मबंधन से छूटकर मुक्ति को प्राप्त होते हैं । मुक्त अवस्था में, विदेह अवस्था में निराबाध अनन्त सुख में मग्न रहते हैं ।

आत्मभावना की शिक्षा – इस श्लोक में बताया गया है कि शरीर मिलते रहने का कारण है शरीर में आत्मभावना करना । और शरीरों का मिलना बंद हो जाय, मैं शरीर से भी विविक्त केवल निज ज्ञानस्वरूप में रहूं तो उसका उपाय है आत्मा में आत्मा की भावना करना । जिसकी जैसी भावना होती है उसके अनुकूल उसे फल मिलता है । जिसकी भावना शरीर में आत्मा मानने की है उसको शरीर मिलते रहेंगे । जिनको शान्ति प्राप्त करने का प्रयोजन है उनको आत्मतत्त्व की भावना से ही काम बनेगा । इस श्लोक से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे जीवन में मुख्य काम यह है कि मैं शरीर में या धन वैभव में अहंकार अथवा ममकार न करूँ । सरल वृत्ति से आनन्द उमड़ता है और कठिन वृत्ति से अर्थात् मायाचार के परिणाम से कोई लौकिक सुख मिला तो वह भी विपदा है । इस कारण एक ही मात्र कर्तव्य है कि हम आत्मा में 'यह मैं आत्मा हूं' ऐसी अपनी दृढ़ भावना बनायें ।

श्लोक 75

नयत्मात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव वा ।
गुरुरात्माऽऽत्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत:॥७५॥

परमार्थत: स्वयं का स्वयं गुरु – यह जीव अपने आपको अपने आप ही जन्मअवस्था में ले जाता है और अपने आपको ही निर्वाण प्राप्त करता है । इस कारण परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है । मुक्ति का मार्ग असहाय मार्ग है, पर की सहायता जहां रंच न हो ऐसा स्वसहाय मार्ग है

। यह जीव अपना जैसा परिणाम बनाता है, उस परिणाम के अनुकूल इसकी गति स्वयं होती रहती है । जैसे कि पहिले श्लोक में बताया है कि शरीर में आत्मभावना की जाए तो नए नए देह मिलते रहेंगे और आत्मा में आत्मभावना की जाए तो देहरहित अवस्था हो जाएगी । यों निर्वाणअवस्था को प्राप्त कराने के लिए कोई दूसरा गुरु नहीं है । स्वयं का ही परिणाम निर्मल करना होगा, तब मुक्ति मिल सकती है । भले ही हितकारी गुरुवों का उपदेश सुना जाए, किन्तु अपना ही परिणाम जब तक उसके अनुकूल न बनाया जाए, तब तक तो उसको शांति और सुख का मार्ग कैसे मिल सकता है ?

परमार्थतत्त्व व उसका परमार्थश्रद्धान् – भैया ! शांति व शान्ति के मार्ग को प्राप्त करने वाला सर्वप्रथम परिणाम है कि अपने आपका जैसा यर्थाथस्वरूप है, तैसा विश्वास करना । स्वयं पर के सम्बन्ध बिना अपने आपकी जो स्थिति हो, वह ध्यान में न आये तो अपना विश्वास नहीं किया समझिये । कल्पना कर लो कि यह शरीर अपने साथ न होता और जो कार्माणवर्गणाएँ हैं, वे भी न होतीं इस आत्मा के साथ तो आत्मा कैसी स्थिति में रहता ? इसका अन्दाज करने से आत्मा के स्वरूप की परख होती है । यह शरीर न होता और केवल मैं ही होता तो यह मैं अमूर्त आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूप एक चेतन द्रव्य सकल अञ्जनों से रहित केवल प्रकाशमात्र होता । ये कर्म भी न होते तो मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानज्योतिमात्र होता, न वहां राग का उदय होता, न द्वेष का, न मोह का – ऐसा मेरा सहज स्वरूप है ।

भ्रांति का कष्ट – यह जीव ऐसे अपने सहजस्वरूप को भूलकर व्यर्थ की जो भिन्न वस्तुयें हैं, उन्हें यह 'मेरा है' यों मानता है तो मानने से कुछ अपना हो न जायेगा, पर अपना मान लिया, इससे जो कलंक आत्मा में लगा, बर्हिमुखता हो गई उसके फल में, फिर यह जन्ममरण के चक्कर लगाता है । लोक में सबसे बड़ी दुर्लभ वस्तु है सम्यग्ज्ञान । जिस जीव को यथार्थ ज्ञान है, उसे आकुलता कभी नहीं हो सकती । काहे की आकुलता । मान लो आज धनी थे, कुछ गड़बड़ी हो गई रात्रि को । न रहा धन, कल के दिन, तो ज्ञानीपुरुष इसमें खेद नहीं मानता है । वह तब भी यह जान रहा है कि मैं जितना था, जैसा था, वैसा का वैसा आज भी हूं । जो व्यर्थ के अज्ञान अन्धकार में पड़े हैं, इस मायामयी लोक में जो अपनी शान बढ़ाना चाहते हैं, उनको तो कष्ट ही है ।

परमार्थ व माया के रुचियों की स्थितियां – जिसको जीवन प्यारा बाहरी बातों का इतना मूल्य न समझे । कुछ मिल गया तो ठीक, न मिल गया तो ठीक । जैसी परिस्थिति हो वह ठीक । यदि मन स्थिर है, मन भी चंगा है तो समझो कि अपना आनन्द अपने पास है । कोई भी बाह्यसंपदा हो, धन प्यारा हो और इस लोक में मेरी शान रहे, ऐसी कल्पना प्यारी हो उनको कर्म सताया करते हैं। जो अपने सहजस्वरूप को जानते हैं, उससे ही जिसका प्यार है, जीवन को भी एक

औपाधिक घटना जानते हैं, मैं तो अजर अमर हूं, अजन्मा हूं, ऐसे ज्ञायकस्वरूप की जिन्हें रुचि है, उनको जीवन भी रुचिकर नहीं है । अशांति है, अशांति अशांति ही बढ़ रही है और यहां के कुछ लोगों के स्वार्थवश थोड़ा हाहा-हूहू कह दिया और उसमें बह गए, यह बुद्धिमानी नहीं है ।

ज्ञानी का विवेक – भैया ! ज्ञानी का परिणाम बड़ा और घोर होता है, विवेकपूर्ण होता है, उसे न जीवन से प्रेम है, न धन से प्रेम है और न यहां इज्जत से प्रेम है । उसे तो प्रेम है अपने अन्त:स्वरूप में बसे हुए इस कारणपरमात्मतत्त्व से । ऐसा शुद्ध ज्ञानस्वरूप का आलम्बनरूप परिणाम जहां होता है, वहां निर्मलता बढ़ती है, तब यह आत्मा अपने ही ज्ञानबल से अपने आपको अपने आपके ही द्वारा निर्वाण की प्राप्ति करा लेता है । दूसरा कोई निर्वाण न करा देगा । मरने से तो कोई बचा नहीं सकता अथवा किसी के मन में कोई विकल्प उठ रहा हो, उस विकल्प की पीड़ा हो, उस दुख से तो बचा नहीं सकता, निर्वाण जैसी बात तो बहुत बड़ी बात है । किसी के वश की बात नहीं है कि अन्य किसी को कोई कुछ कर सके । बड़े-बड़े पुरुषों की भी यहां मनचाही बात नहीं हो सकी । अंजना और पवनञ्जय का किस्सा, श्री राम और सीता की कहानी आदि अनेक उदाहरण हैं कि इतने महान् होकर भी मनचाही बात नहीं हो सकी । कौन किसे निर्वाण करा सकता है ? एक रावण के ही वंश में उत्पन्न हुए उनके लड़के तो मोक्ष चले जायें और रावण ज्यों का त्यों बल्कि अधोलोक में उत्पन्न हो, सब अपने अपने परिणामों की बात है ।

तत्त्वदर्शन के अभाव में झंझटों का संकट – इस जीव का गुरु यह जीव स्वयं है, दूसरा कोई गुरु नहीं है । जब तक यह जीव अपने कषायभाव पर विजय नहीं करता, जिस तरह की इच्छा उठी, जिस तरह का विकार जगा, उस विकार के वश होकर उस विकार से मलिन हो गया तो यह जीव अपने उद्धार का यत्न कैसे करेगा ? यह तो संसाररूप कीचड़ में फंसा रहेगा। जैसे स्वप्न में कोई किसी की बढ़ाई कर रहा हो, कोई किसी का यश गा रहा हो और वह खुश हो रहा हो वहां वास्तविकता कुछ भी नहीं है । केवल स्वप्न के दृश्य हैं – ऐसे ही यहां पर कुछ मोही दूसरे मोहियों की प्रशंसा कर रहे हों तो वहां वास्तविकता कुछ नहीं है, केवल कल्पना ही कल्पना है । तत्त्व आत्मा के अन्तर में केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप का ही पड़ा हुआ है, वह तत्त्व है । उस तत्त्व की ही दृष्टि हो, तब तो इस संसारसमुद्र से पार हो सकते हैं।

मोही प्राणी की भटकन – यह अपना परमात्मा अपने आपकी दृष्टि में न हो तो यह भूला भटका, यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है, कहीं इसको स्थान नहीं मिलता । जैसे फुटबाल पूजने के लिए नहीं होता है, यहां से वहां दौड़ाने के लिए है, ठोकरें खानें के लिए होता है, उसे कहीं आराम नहीं मिलता है – ऐसे ही फुटबाल की तरह यह मोही प्राणी ठोकरें खाने के लिए है । स्त्री की, पुत्रों की, पड़ौस के लोगों की ठोकरें खाने के लिए है । कोई राग भरी ठोकर मारता है तो कोई

विरोधभरी ठोकर मारता है । जैसे यहां पर फुटबाल को कोई पैर से ठोकर मारता है तो कोई हाथ से ठोकर मारता है तो कोई सिर से ठोकर मारता है । फुटबाल तो ठोकरें खानें के लिए है – ऐसे ही कोई अपनी प्रीति, राग दिखाए, द्वेष दिखाए तो आकुलता सब में एक सी है । द्वेष के व्यवहार में, राग और असमता के व्यवहार में कम आकुलता नहीं होती ।

राग और द्वेष की चोटें – कोई मेरे प्रतिकूल मेरा मुकाबला करने के लिए आ गया । बातों से वह मुझे परास्त करना चाहता है । इस मुठभेड़ में जैसी हमें आकुलता है, उससे भी अधिक आकुलता परिवार के प्रेमभरे वचनों के सुनने में होती है, पर यह मोही यह महसूस नहीं करता है । उसे तो वे स्नेहभरे वचन प्रिय लग रहे हैं । भीतर कैसी खिचड़ी पक रही है, कैसा विह्वल परिणाम हो रहा है ? वह द्वेष के मुकाबले से कम नहीं है । राग का अन्धा सप्तम नरक तक जन्म ले लेता है । द्वेष से कितने भी कुछ उपद्रव प्राप्त किए गए हों, उससे भी अधिक दुर्गति इस राग के अन्धे की होती है । सप्तम नरक से भी निम्न गति है निगोद की। निगोद में जन्म राग के अन्धे का होता है । द्वेष से ग्रस्त पुरुष का जन्म निगोद में नहीं होता है । राग की चोट द्वेष की चोट से बुरी है । द्वेष में तो यों समझो कि ऊपरी चोट सी है, ये तुरन्त विदित हो जाता है, महसूस होता है, समझने लगता है, पर राग की बहुत गहरी चोट होती है ।

आत्मगुरुता – रागद्वेष से प्रेरित होकर यह जीव अपने आपको इस संसार में घुमा रहा है, किन्तु आत्मबुद्धि, आत्मा में ही आत्मबुद्धि करने वाला पुरुष अपने आपको शांति के मार्ग में बढ़ा ले जाता है । इसका गुरु यह आत्मा ही स्वयं है । हमें अपने आपके परिणामों पर दृष्टि देनी चाहिए । बाहरी बातों का इतना मूल्य न समझें । कुछ मिल गया तो ठीक, न मिल गया तो ठीक, जैसी परिस्थिति हो वह ठीक । यदि मन स्थिर है, मनचंगा है तो समझो कि अपना आनन्द अपने पास है कोई भी बाह्य सम्पदा हो, ज्ञान नहीं है तो वहां आकुलता ही मचेगी । अपने आपको अपना गुरु मान कर अपने परिणामों पर निर्भर रहना चाहिए ।

सुभवितव्यता – जब इस जीव की संसार की स्थिति संनिकट होती है अर्थात् निर्वाणप्राप्ति के सम्मुख होती है तो दर्शनमोहनीय का उपशम अथवा क्षयोपशम होता है, क्षय भी होता है । उस समय यह जीव अपने आपके ज्ञानबल से अपने आपमें अपने आपकी पहचान कर लेता है। तब कभी-कभी यह सद्गुणियों के उपदेश के बिना भी यह जीव आत्मस्वरूप को पहिचान लेता है और रागद्वेष आदिक कषायभाव और विभाव परिस्थितियों का त्याग करके स्वयं कर्मबन्धन से छूट जाता है । इस कारण परमार्थ दृष्टि से देखो तो यह खुद आत्मस्वरूप अपने आपका गुरु है । दूसरा कोई गुरु नहीं है । गुरु से आशा किया गया काम इष्ट पदार्थों का श्रद्धान् करना और इष्ट पदार्थों का ज्ञान करना और इष्ट पदार्थों का आचरण करना है । इस आत्मा का अभीष्ट तत्त्व है एक शुद्ध आत्मतत्त्व । इस शुद्ध आत्मतत्त्व का श्रद्धान कोई दूसरा नहीं करा सकता, इस

आत्मतत्त्व का रमण कोई दूसरा नहीं करा सकता । इसलिये यह आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही स्वयं कर सकता है । हम मानें तो मान लें, न मानें तो न मानें, पर दूसरे में यह सामर्थ्य नहीं है कि किसी बात को वह मुझसे मना ही ले । कोई कितना ही समझाये, हमारे ज्ञान में वह बात बैठे तो हम उसके जानकार हो सकते हैं । जब हमीं ने अपने में ज्ञान का परिणाम किया तभी तो जाना, हमारी दृष्टि स्वयं निर्मल हो और हम यथार्थतत्त्व का ज्ञान करके शुद्ध आत्महित में लग जायें तो हमारा कल्याण है ।

मोह में पतन और निर्मोहिता में उद्धार – भैया ! मोह ममता में रह कर कुछ उद्धार नहीं होने का है बल्कि मलिनता आ जाती है । यह जीव सब जीवों से न्यारा है, लेकिन दो चार जीवों को यह अपना मान लेता है यह सब मोह का गहन अंधकार है । है सबसे न्यारा, इससे सब जुदे हैं पर उन जुदों में से दो चार में स्नेह भाव है तो इसे क्या कहा जाय ? यह सब विकल्प व्यामोह का फल है और उस व्यामोह में केवल दुःख ही है । बड़े-बड़े पुरुष श्री रामचन्द्र, पाण्डव और-और भी सब जब तक घर में रहे तब तक एक न एक कष्ट आता रहा। शांति तब मिल पायी जब सर्वपरिग्रह का त्याग करके, सर्वसम्बन्धों का नाता तोड़कर केवल निज ब्रह्मस्वरूप से ही अपना नाता रखा तब शांति मिली । बड़े-बड़े पुरुष भी त्यागमार्ग में आकर ही शांत हो सके, मुक्त हो सके । तब समझिये वही सबके लिए मार्ग है । जो जितना चल सकेगा वह उतना फल पायेगा । मगर संचय का मार्ग अपनाने से, मोह ममता का मार्ग अपनाने से शांति प्राप्त नहीं हो सकती है ।

आकिञ्चन्यभाव का प्रसाद – शान्ति का कारण तो निर्मोहता, वैराग्य, ज्ञान, आत्मसंतोष, धैर्य, आत्मदृष्टि ये ही हैं । उद्धार का उपाय मोह नहीं है राग नहीं है । अब जाना ना । जितना जो कुछ अपनी शांति के लिए किया उस सबको एक बार में मिटा दीजिएगा तब शांति का मार्ग मिलेगा । सीधा अर्थ यह हुआ । इस विकल्प से जितना धनसंचय माना, कुटुम्ब वाला माना, शान वाला माना उन सबको भूल जाना होगा और अपने आपको आकिञ्चन्य मानना होगा तब ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की दृष्टि होगी और इस ही में रुचि होगी, तृप्ति होगी । इस ज्ञान के अनुभव से ही संतोष होगा और उस स्थिति में फिर यह जीव सर्वसंकटों से मुक्त हो जायेगा ।

निर्वाण की उपादेयता – हमें अपने आनन्द के लिए अपने आपसे ही अपने आपमें कुछ विलक्षण पुरुषार्थ करना है, ऐसा निर्णय करके अपने हित के अर्थ ज्ञान बढ़ायें ! उस ज्ञान को बनाये रहे, ज्ञान के स्वरूप का ज्ञान करते रहें, ज्ञानमात्र अपने आपको मानते रहें तो इस ज्ञानभावना के मार्ग में लगना चाहिए । मोक्ष का मार्ग है अपने आपके आत्मा का यथार्थ विश्वास कर ज्ञान करना और उस ही स्वरूप में मग्न होना । इस रत्नत्रय के प्रसाद बिना मुक्ति का लाभ नहीं हो

सकता है । अपने आपको अपने कल्याण के लिए अपनी ही जिम्मेदारी समझकर अन्तर में अपना शुद्ध परिणाम बना लेना चाहिए तब हमारा यह जीवन सफल है ।

परमब्रह्मस्वरूप की उन्मुखता का अनुरोध – भैया ! जो कुछ भी यहां दिख रहा है वह सब कुछ भी मेरा नहीं है । मैं तो शाश्वत ज्ञानज्योति मात्र हूं । इस ज्ञानज्योति के ज्ञान के अभ्यास में पहिले मोहवासना से वासित होने के कारण कष्ट मालूम होता है, किन्तु ज्ञान का अभ्यास हो जाने पर सत्य आनन्द प्रकट होता है । हमारा कर्तव्य है कि हम इस ही परमशरण अन्तस्तत्त्व की ही चर्चा करें और इसमें ही लीन होने का यत्न करें । अन्य कुछ कल्पनायें इस जीव के क्षेम को करने वाली नहीं है । इस निश्चल ज्ञानस्वरूप की निश्चल धारणा होने पर निश्चलता ज्ञानदृष्टि में रहने के कारण यह सब झूठा चलायमान सा नजर आता है । हम अचलित परविविक्त आत्मतत्त्व में अपने उपयोग का निवास बनायें, यह परमयोग हमें सदा के लिये संकटों से मुक्त करा देगा । ऐसा यह परमनिर्वाण सदा मुक्त, सदाशिव, सनातन, ज्ञायकस्वरूप परमब्रह्म की दृष्टि के प्रसाद से प्राप्त होता है और यह दृष्टि हमारे किये ही होगी । अंत: ज्ञानस्वरूप, कारणसमयसार, परमब्रह्म के ज्ञान का हम निरन्तर यत्न करें । इस ही पुरुषार्थ से हमारा मानव जीवन प्राप्त करना सफल होगा ।

* इति समाधितन्त्र प्रवचन तृतीय भाग समाप्त *